UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182769
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 801/M69S Accession No. G.H. 1604

Author मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद।

Title साहित्य की वर्तमान धारा।

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य की वर्तमान धारा

लेखक

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०, बी० एल०

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना

मूल्य १॥)

मुद्रक
देवकुमार मिश्र
हिन्दुस्तानी प्रेस, बाँकीपुर, पटना

विषय-सूची

न०	विषय		पृष्ठ
१.	साहित्य और समाज	....	१
२.	नवयुग के साहित्य का रूप	....	७
३.	साहित्य-विचार और आधुनिकता	....	१५
४.	युद्धपरवर्ती आधुनिक साहित्य	....	२१
५.	कला और नीति का सम्बन्ध	....	३०
६.	कलाकार का धर्म	....	३४
७.	कला एवं शिल्प के उपादान	....	४३
८.	कवयः किं न पश्यन्ति ?	....	४६
९.	आधुनिक कविता	....	५४
१०.	कहानी-कला	....	६४
११.	साहित्य में हास्य-रस	...	७३
१२.	ट्रेजिडी का स्वरूप-विश्लेषण	...	८२
१३.	कविता और विप्लववाद	....	९०
१४.	साहित्य और विज्ञान	....	१००
१५.	उपन्यास का भविष्य	....	१०६
१६.	आधुनिक समालोचना-पद्धति	....	११९

१७. आर्ट—कम्यूनिस्ट बनाम बुर्जुआ	....	१३०
१८. प्रगतिशील साहित्य	....	१३८
१६. साहित्य में प्रेम	....	१५५
२०. साहित्य और राजनीति	....	१६४
२१. अमर कलाकार प्रेमचंद	....	१७१
२२. डेविड हरबर्ट लारेंस	....	१७८
२३. श्रीमती पर्ल बक	....	१८६

निवेदन

इस पुस्तक के अधिकांश लेख समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अब तक कहीं प्रकाशित नहीं हुए। "कविता और विप्लववाद" शीर्षक लेख डे० लुइस के एक अंगरेजी लेख का भावानुवाद है। अन्यान्य लेखों का उपादान-संग्रह भी विशेष रूप में अंगरेजी साहित्य की पुस्तकों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से किया गया है। उनमें कुछ विशेष पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के नाम अन्यत्र दे दिये गये हैं। लेखक उनके लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। मैं नहीं जानता कि हिन्दी साहित्य के सुधी समालोचकों एवं सहृदय पाठकों को मेरे ये लेख कहाँ तक उपयोगी एवं रुचिकर प्रतीत होंगे। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य के समीक्षकों को विदेशी साहित्यधाराओं के साथ संपर्क स्थापित करने में यदि कुछ भी सहायता मिली तो मैं इतने से ही अपने श्रम को सार्थक समझूंगा। अन्त में, मैं हिन्दू-विश्वविद्यालय के अध्यापक तथा हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं अध्ययनशील, गम्भीर समालोचक श्रीयुत नन्ददुलारे जी वाजपेयी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के आरम्भ में एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखने की कृपा की है।

— जगन्नाथप्रसाद मिश्र

आधुनिक हिन्दी समीक्षा

साहित्य शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। उसका नव जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, किन्तु समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही मानना चाहिए। इस प्रथम उत्थान की समीक्षा को द्विवेदी-युग कहा जाता है। स्वयं द्विवेदीजी के अतिरिक्त पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु और पं० रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के संस्कार की प्रवृत्ति इसी समय दिखाई दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने सुधारवादी स्वरूप ग्रहण किया।

उस समय रीतिकाव्य का ही हिन्दी में सबसे अधिक प्रचलन था। थोड़ी मात्रा में नवीन शैली की रचना भी होने लगी थी, किन्तु तुलना में वह रीति-काव्य से बहुत कम थी। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति कविता है, यद्यपि थोड़ा-बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्माजी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से शर्मा... अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षक कहे जा सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और शक्ति बढ़ती गई और रीतिकाव्य का अन्त होता गया। रीति के प्रभावों से द्विवेदी-युग की समीक्षा को पूरी मुक्ति नहीं मिली। प्राचीन का मोह उनसे नहीं छूटा। यदि हम नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध साहित्यिक आधार पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रखकर देखे गये, तो हम कहेंगे कि वह युग द्विवेदीजी के पश्चात् उपस्थित हुआ। स्वयं शुक्लजी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस प्रकार शुक्लजी और उनके पूर्ववर्त्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतना अधिक झुक गये थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं की ठीक

परख न कर सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा पड़ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी युग में नवीन साहित्य का पल्ला हलका होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को सम दृष्टि से क्यों न देखें ?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही ? क्यों हम सभी अपनी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं ? इसका कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं, जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों से किस प्रकार हमारी और हमारे साहित्य की रक्षा हो, आज की साहित्य समीक्षा की मुख्य समस्या यही है।

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरंभिक परिस्थितियों को पार कर आज की भूमि पर पहुँची है और किस प्रकार वह भविष्य-पथ की ओर अग्रसर हो रही है। उसने कितना साधन-संबल संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह आगामी परिस्थितियों का सामना कहाँ तक कर सकती है ?

पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीतिकाव्य में, जो शर्माजी के समय का प्रचलित काव्य-प्रवाह था, कौशल की ही प्रधानता थी और उनके समय के नव-निर्माण में इसी की कमी थी। फलतः शर्माजी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना जो सामयिक साहित्यिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य ही था।

काव्य-शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद-प्रयोग, उक्तिचमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्माजी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य-शरीर और काव्य-आत्मा में पारस्परिक संबंध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य आत्मा

स्थानीय है और विहारी तथा देव का काव्य शरीर स्थानीय। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव और विहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-संबंधिनी ही होती है, और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की उक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करती है। शर्माजी ने काव्य-शरीर की शुद्धि के सभी पहलू स्पष्ट कर दिये और उसकी समस्त संभावनाएँ उद्घाटित कर दीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही मन और आत्मा नहीं सँवरते।

नवीन काव्य-धारा के संबंध में शर्माजी का मत मुक्तक काव्य के—विहारी और देव आदि के—काव्य प्रतिमानों से ही प्रभावित था। नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इस विषय पर उनके संस्कार रीति शैली से ही परिचालित हुए थे, फलतः नवीन काव्य की गतिविधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन कविता उस साँचे में नहीं पैठ सकती थी।

द्विवेदी युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में नव-युग की भावना का न्यास था। छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और विहारी के साँचे कहा तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

'मिश्रबंधु' की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु यह सब उल्लेख नाम मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्रबंधु रीतिकाव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा, रीतिकाव्य और रीतिग्रंथों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

द्विवेदीजी ने समीक्षा के जीवंत पहलू—आत्म पक्ष पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। संपूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदीजी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षा के पद को गौरवान्वित करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी-नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से पृथक् और ऊँचा स्थान देने की सिफारिश की और दूसरी ओर भारतेन्दु जैसे नई शैली के स्वदेशप्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपन्न हुआ।

पं० कृष्ण विहारी मिश्र और लाला भगवान दीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों में हैं, जिनपर रीति-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा में काव्य-विषय को महत्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा काव्य-शैली को मुख्य ठहराते हैं, उन्हें विषय के महत्व अथवा काव्य की वास्तविक भावात्मकता से प्रयोजन न था। द्विवेदी-युग की समीक्षा के ये दो अतिवाद हैं जिनके मध्य कोई सामंजस्य न था।

शुक्लजी अपनी समीक्षा में मिश्रबंधु अथवा शर्माजी की अपेक्षा द्विवेदीजी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य-विषय के महत्व का आरंभ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भावसत्ता को—आत्मा को—स्थापित किया। यही शुक्लजीका काव्यात्मक लोकवाद है, जो उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष भी हो सकती है, बिना सामाजिक पृष्ठभूमि के—बिना प्रबंध-योजना के भी व्यंजित हो सकती है, शुक्लजी इसे स्वीकार नहीं कर सके।

काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गई किन्तु आत्मा के स्थूल-पक्ष व्यवहार, या नीति पर ही वह टिक रही। काव्य-विषय का आग्रह उन्हें 'एही महँ रघुपति नाम उदारा' के प्रवर्तक तुलसीदास के समीप ले गया।

तुलसीदास के काव्यात्मक महत्व पर दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि गोस्वामीजी कवि के साथ ही अपने युग के एक धर्म-स्थापक, सुधारक, और संस्कारक भी थे। उनके काव्य में उपदेशात्मक तथ्य कम नहीं हैं।

विशुद्ध काव्यात्मक भाव-संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था, यह उनके समीक्षा-कार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस-सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द-पक्ष पर, उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर उनकी निगाह नहीं गई। साहित्य-समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देनेवाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस-संबंधी उनकी व्याख्या व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर, एक नैतिक आधार का अनुसंधान करती है।

इस संबंध में उनका 'साधारणीकरण' का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य में रस का एक अबाध धारा न मानकर वे वस्तु या विषय-चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियाँ मानते हैं। रामचरित मानस के तीन पात्रों का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि राम के चित्रण में पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है—रसानुभव करती है, रावण के चित्रण में वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण में अंशतः रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्लजी की नैतिक काव्यदृष्टि का विज्ञापन करती है।

रस और अलंकार—भाव पक्ष और शैली पक्ष का पृथक्करण और आत्यंतिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा साहित्यिक सिद्धान्त है। विभाव पक्ष और अलंकार पक्ष काव्य भावना और काव्य व्यंजना को दो पृथक् प्रक्रियायें मानने के कारण शुक्लजी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोसे जैसे नवीन सिद्धान्तस्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी काव्य के स्थायी वर्ण्य विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत उपस्थित करते हैं।

काव्य की देश काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागात्मिका वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देशकालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक काव्याङ्गों के स्वतंत्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय-समाज-पद्धति और वर्ण व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था का एक समाज पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य-वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान् कवि सूरदास के प्रति तथा विशिष्ट समाज व्यवस्था के पक्षपाती होने के कारण कबीर के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उनसे शुक्लजी की समीक्षा-संबंधी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक संबंधों का प्रबंध-काव्य के सांचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और दार्शनिक काव्य से भी वे विरक्त हैं।

एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अंतर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरंभिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी, किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाएं भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुँच सकी हैं। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की, किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप जिसमें वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा में उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े, और एक विशेष अंश पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिन्दी साहित्य का महान् उपकार हुआ, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य संपत्ति को पूर्णतः आत्मसात कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य शैलियों, काव्यांगों में और कलात्मक स्फूर्तियों का सम्यक आकलन हो जाय; काव्य-इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य-सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन शुक्लजी की कार्य-परिधि में नहीं आती।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दर दास की 'साहित्या-लोचन' और श्री बक्शी की 'विश्व साहित्य' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'साहित्यालोचन' में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्याङ्गों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई और 'विश्व-साहित्य' में यूरोपीय और विशेष कर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूप रेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रंथ का हिन्दी साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठाकर सार्वजनीन् कलावस्तु के रूपमें में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

(शुक्लजी का समीक्षा-कार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। इसी कारण वह अधिक मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं।) बाबू श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' उतना मौलिक न हो, किन्तु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी व्याख्या करनेवाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में आत्माभिव्यंजना का प्राधान्य था और प्रगीत काव्य का माध्यम ग्रहण किया गया था। इसीके अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य तथा वस्तु और शैली का ऐक्य उद्घोषित करके चली। नवीन प्रगीत काव्य की संगीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर नए समीक्षकों ने प्रथम वार काव्य की आध्यात्मिकता का अनुभव किया, काव्यरस को अलौकिक माना।

शुक्लजी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य-विषय को महत्त्व देते थे और आलंबन का साधरणीकरण आवश्यक बताते थे, किन्तु नई समी। जो विशुद्ध

काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई काव्य को ही आध्यात्मिक प्रक्रिया स्वीकार करने लगी। संपूर्ण काव्य रसात्मक नहीं होता, किन्तु काव्य रसात्मक ही होता है। काव्य की रसात्मकता का अर्थ ही है उसकी आध्यात्मिकता। रस का आनन्द अलौकिक आनन्द है।

भारतीय राष्ट्र की नवजागृति के काल में नवीन कविता जो सुंदर संवेदना, दार्शनिक आभा, कल्पना की अपूर्व छटा तथा भाषा और अभिव्यंजना का नव-विकास लेकर उपस्थित हुई उससे हिन्दी समीक्षा काव्य की उच्चतम भावभूमि का प्रथम वार परिदर्शन कर सकी। बंगला में रवीन्द्रनाथ और हिन्दी में नवीन रहस्यवादी, दार्शनिक, सौन्दर्यचेता कवियों ने काव्य को उच्चतम सांस्कृतिक भूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न किया। फलतः नवीन समीक्षा में भी नई उमंग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य नैतिक आवरण को छोड़कर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक बन गया।

किन्तु काव्यानुभूति के साथ संगीत का संयोग इस युग में बना ही रहा। संगीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग की गद्य की भाषा भी ध्वन्यात्मक हो रही था। प्रसाद के नाटक, निराला के उपन्यास और पंतजी की गद्य-भूमिकाएँ अतिरंजित भाषा का उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अंग भी अपनी विशेषता छोड़कर काव्यालंकारों से सुसज्जित हो गए।

एक अतिरिक्त सौन्दर्य-संवेदना इस युग की रचनाओं पर अधिकार करने लगी थी जिससे विशुद्ध भावव्यंजना का मार्ग अवरुद्ध होने लगा था। कतिपय समीक्षकों ने इसी कारण इस युग को सौन्दर्य या कलाप्रधान युग कहा है, किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। वास्तव में एक सांस्कृतिक अभिरुचि, जिसमें भाषा और भावों की अलंकृति की स्वाभाविक प्रेरणा थी, इस युग में देखी जाती है। काव्य में विशुद्ध भावव्यंजना के साथ यह सौन्दर्यालंकृति भी मिली हुई है।

फिर भी काव्य का अनुभूति पक्ष इस काल की काव्य समीक्षा में प्रमुख रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति या भाव-

योग की खोज की गई तथा काव्य को मानसिक संवेदन का आधार दिया गया। प्रथम वार एक माप रेखा बनी जिससे प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एकाधार पर रख कर देखा जा सका।

हिन्दी-समीक्षा के लिए यह युग-प्रवर्तक कार्य था क्योंकि इसी आधार पर हिन्दी साहित्य विश्व-साहित्य का एक अंग माना जा सका। साहित्य की एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत और कालगत बंधनों के लिए स्थान न था। रहस्यवादी समीक्षा-युग की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

ज्यों ही काव्य की यह अबाध सत्ता प्रतिष्ठित हुई त्यों ही समीक्षकों को यह अनुभव भी हुआ कि ऐसा उत्कृष्ट साहित्य जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक कहा जा सके विरल है और प्रत्येक साहित्यिक रचना को यह सर्वोच्च पद प्राप्त नहीं होता। इसी समय समीक्षकों का एक वर्ग इस मत के प्रचार में लगा कि हिन्दी का नवीन काव्य पूँजीवादी सभ्यता का काव्य है और उस पर उक्त सभ्यता के एक युग-विशेष की छाप है। मानव-इतिहास को मार्क्स ने जिन कतिपय कालों में विभाजित किया है, उसी मापदंड को लेकर नए समीक्षक हिन्दी कविता पर प्रयोग करने लगे।

रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक और भावात्मक समीक्षकों की यह प्रतिक्रिया थी। वे समीक्षक जब काव्य का—श्रेष्ठ काव्य का देश-काल-निर्बाध स्वरूप मानते थे तब नया समीक्षक-दल इसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और नवीन कविता को 'पूँजीवादी' कविता कहने लगा।

इन दोनों मतों के तार-तम्य को समझ लेना चाहिए। पहला मत काव्य के मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करता है, किन्तु यह व्याख्या इतनी सूक्ष्म और मार्मिक है कि प्रत्येक समीक्षक श्रेष्ठ काव्य का चयन इस पद्धति से नहीं कर सकता। भय है कि समीक्षक प्रभावाभिव्यंजक हो जायगा और अपनी रुचि-विशेष का अनुशासन स्वीकार कर लेगा। वह साहित्य की कोई तटस्थ या वस्तुगत व्याख्या न कर सकेगा।

किन्तु इस भय के साथ इस सिद्धांत का अपना बल भी है और वह

बल काव्य-प्रेमी मात्र के साक्ष्य का बल है। सभी सहृदय यह स्वीकार करेंगे कि श्रेष्ठ कवियों की सुन्दरतम रचनाओं में सार्वजनीनता है, युग का प्रतिबंध है, वाद का अपवाद नहीं है। काव्य-प्रक्रिया कोरी भौतिक वस्तु नहीं है, वह मानव-कल्पना की सृष्टि है। वह क्रमागत मानव-संस्कृति की परिपूर्णता का परिणाम है।

दूसरी ओर यह भी असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों और प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव है। दोनों मत नितान्त विरोधी नहीं हैं। एक काव्य के मानसिक और कलात्मक गुणों की व्याख्या करता है और दूसरा उन ऐतिहासिक स्थितियों की शोध करता है जिसमें वह रचना संभव हुई। काव्य के ये दो पक्ष हैं, दोनों का स्वतंत्र अध्ययन और समन्वय संभव है, यह स्वीकार करना होगा।

किन्तु दोनों दृष्टियों में विभेद बढ़ता ही गया है। एक ओर नवयुग की मनोवैज्ञानिक समीक्षा अपनी दृढ़ साहित्यिक भित्ति का त्याग कर केवल काव्य-प्रभाव की अभिव्यंजना करने लगी और दूसरी ओर नए समीक्षक साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं का एक वाद-विशेष के लिए तिरस्कार करने लगे।

किन्तु दोनों पक्षों में सतर्क समीक्षकों का एक दल ऐसा भी है जो काव्य की व्यावहारिक समीक्षा में इतना अतिवादी नहीं बना। साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिन नवीन कवियों का स्वागत एक पक्ष के समीक्षकों ने किया था दूसरे पक्ष के समीक्षकों ने अपनी सामाजिक व्याख्याओं द्वारा उन्हीं कवियों के महत्व को स्वीकार किया। इन दोनों पक्षों के समीक्षकों में पक्ष-भेद अवश्य है किन्तु वास्तविक भेद नहीं।

कट्टरता का परिणाम दोनों ओर अनिष्टकारी हुआ, और हिन्दी-काव्य-समीक्षा के सामने संकट उत्पन्न हो गया कि वह आपस की तू-तू मैं—मैं में पड़ कर कहीं अपने महान् उद्देश्य से गिर न जाय। प्रभाववादी समीक्षक अत्यन्त वैयक्तिक सीमाओं पर पहुँच गए और केवल हृदय की क्षणिक प्रतिक्रिया को समीक्षा के नाम से प्रकाशित करने लगे। अपनी रुचि के कवियों की,

आलंकारिक भाषा में, उपमान-उपमेय विधान द्वारा, प्रशंसा करना ही उनका काम हो गया।

दूसरी ओर परिस्थितियों और काव्य-रचनाओं की सापेक्षता का आग्रह भी साहित्यिक मर्यादा को पार कर गया और हिन्दी समीक्षा में 'वादी' समीक्षा का प्राबल्य हो उठा। प्रचारक समीक्षकों ने सामाजिक विकास के अस्त्र के रूप में साहित्य की व्याख्या की और स्वभावतः उग्र रूप में साहित्यिक गुणों पर प्रहार किया। इस उत्तेजना पूर्ण प्रतिक्रिया में काव्य की शिष्ट समीक्षा के लिए स्थान ही कहा था ?

फिर भी समीक्षा-धारा का अपना उपयोग था। हिन्दी की कविता का सामाजिक आधार फिर क्षीण हो रहा था और कविगण अपने ऐकान्तिक तराने गाने लगे थे। उनकी रचनाओं पर अतिरिक्त विषाद की छाया पड़ गई थी, इससे नवीन काव्यधारा की रक्षा करनी थी। अब भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह मार्मिक प्रहर आ गया था, जब कवियों के संवेदनशील हृदय और समीक्षकों की मर्मग्राहिणी दृष्टि नवीन सामाजवादी आन्दोलन का साथ दें। इन्हीं कारणों से प्रगतिवादी धारा का मूल्य बढ़ गया।

प्रभाववादी समीक्षा और प्रगतिवादी समीक्षा का द्विमुखी संघर्ष ही हमारे साहित्य के सम्मुख नहीं, एक तीसरी समीक्षा-पद्धति भी धीरे-धीरे सिर उठा रही है और वह प्रगतिवादी सामाजिक काव्य-सिद्धान्त के विपरीत पक्ष को उपस्थित कर रही है। इस वर्ग के समीक्षक यह सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि काव्य वाह्य सामाजिक चेतना का विषय नहीं है, वह कवि की अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति है। वर्तमान कवि सामाजिक 'वैषम्य से आक्रान्त' है और वह कल्पना जगत् में आत्मतृप्ति करता है। कविता उसकी आत्मतृप्ति का साधन है।

यह समीक्षक-वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष को महत्व देने के पहले कवि-व्यक्ति के मानसिक विश्लेषण का प्रयोग करता है। बिना मानसिक कुंठा, अतृप्ति या मनो-ग्रंथि के काव्य-कर्म आरंभ ही नहीं होता। काव्य का मुख्य प्रयोजन कवि का मानसिक समाधान पहले है, पीछे और कुछ।

स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक पक्षों का परस्पर समन्वय न

होने पर ही इस प्रकार की नितान्त विरोधिनी धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। वर्तमान साहित्य जगत् में ये विरोधी मत और विचार उपस्थित हैं। इतने से ही हमारी वर्तमान विषमतापूर्ण स्थिति का परिचय मिल जाता है। किन्तु इससे यह भी सूचित होता है कि वर्तमान अतिवाद स्वस्थ समीक्षा-सिद्धांत का पद नहीं ग्रहण कर सकते ; वे एकांगी और अपूर्ण हैं।

सामाजिक परिस्थिति को सहसा बदल देना हमारी शक्ति में नहीं है ; किन्तु इतना हम कर सकते हैं कि साहित्य समीक्षा के स्वस्थ विकास में इन अतिवादों के खतरे को समझें और इनमें समन्वय लाने का उद्योग करें। आज की हमारी समीक्षा-दृष्टि नवीन साहित्यिक स्वरूपों के ही विचार-विमर्श में लगी हुई है। साहित्य के व्यापक आदर्श जिनमें नवीन और प्राचीन साहित्यिक सामग्री का—हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक निधि का—सामूहिक रूप से ग्रहण हो सके, हमारी चिन्तना से दूर होते जा रहे हैं। उस पर फिर से दृष्टिपात करना होगा और अपनी समीक्षा दृष्टि को स्वस्थ, सर्वाङ्गीण तथा समृद्ध बनाना होगा जिससे साहित्य की सांस्कृतिक और कलात्मक परंपरा अटूट बनी रहे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दी समीक्षा अब तक वैज्ञानिक या शास्त्रीय स्थिति पर नहीं पहुँची है, यद्यपि प्रयोगों और प्रणालियों के आविष्कार हो रहे हैं। विकास की दृष्टि से अभी हिन्दी समीक्षा अंग्रेजी समीक्षा की सी परिपूर्ण नहीं है। विभिन्न समीक्षा-दृष्टियों का स्पष्टीकरण, विवेचन और स्थापन नहीं हुआ, भारतीय समीक्षा के सिद्धान्तों, उनके विकास-क्रम और पारस्परिक संबंध पर ग्रन्थ नहीं लिखे गए। पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तों की तुलना नहीं हुई।

पं० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि यद्यपि नवयुग की हिन्दी समीक्षा की आरम्भिक अवस्था की द्योतक थी, और उसमें एक विशेष प्रकार के साहित्य के ही सत्कार की प्रवृत्ति होने के कारण एकाङ्गिता भी थी, किन्तु व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नए समीक्षक उनकी समता नहीं कर सके हैं। जब तक हिन्दी में समीक्षा की विविध प्रणालियों और सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण न होगा तब तक नई समीक्षा का कार्य अधूरा ही रहेगा।

शुक्ल जी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणा शक्तिओं, शैलीभेदों, और कला-स्वरूपों की परख अधिक व्यापक और वस्तुगत है, इसमें सन्देह नहीं। शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नए समीक्षकों की सौन्दर्य, अनुभूति और कला प्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है, किन्तु सहसा नए वादों के प्रवेश के कारण समीक्षा की प्रगति में एक अवरोध आ गया है।

क्षेत्र में अच्छे समीक्षकों की कमी नहीं है। विविध मतों और दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले विवेचक मौजूद हैं। मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक समीक्षा, प्रभाववादी समीक्षा, देश-काल और परिस्थिति की सापेक्षता में साहित्य का निरूपण करनेवाली समीक्षा, प्रगतिवादी समीक्षा, और अंतश्चेतना-निरूपक समीक्षा, सभी अपना-अपना काम कर रही हैं। इन सब धाराओं के संयोग से नवीन समीक्षा-युग का निर्माण हो रहा है। प्रतिभाएँ अनेक हैं, समन्वय अपेक्षित है। आशा है यह कार्य भी संपन्न होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणेता अध्यापक श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र भारतीय और विदेशी साहित्य के एक अध्ययनशील विद्वान हैं। उनकी साहित्यिक दृष्टि व्यापक है। वे नवीन समाजवादी और प्रगतिवादी विचारों के पुरस्कर्ता हैं। विदेशी और भारतीय साहित्य सम्बन्धी उनके परिचयात्मक लेख सुन्दर और सारग्राही हैं। सिद्धान्तों की चर्चा भी पुस्तक में है, एक स्पष्ट और निर्भीक दृष्टि की स्थापना है; किन्तु कट्टरता के साथ नहीं, यह शुभ लक्षण है और मिश्र जी की साहित्यिक योग्यता का परिचायक है। मुझे सन्देह नहीं कि इस पुस्तक से हिन्दी पाठकों का यथेष्ट लाभ होगा और वे नवीन साहित्यिक दृष्टि को समझ सकेंगे। मुझे यह भी विश्वास है कि मिश्र जी के अध्ययनपूर्ण और सुस्पष्ट पांडित्य से हिन्दी समीक्षा का पर्याप्त हित होगा। संस्कृत और हिन्दी की साहित्यिक परंपराओं से अधिकाधिक घनिष्ठता और विदेशी साहित्य धाराओं से समुचित संपर्क ही हिन्दी-समीक्षा की आज की मुख्य आवश्यकता है और प्रस्तुत पुस्तक को देखने से यह निश्चय हो जाता है कि मिश्र जी इसी पथ पर अग्रसर हुए हैं। अतः मैं मिश्र जी का और उनकी पुस्तक का सादर स्वागत करता हूँ।

नन्ददुलारे वाजपेयी

साहित्य की वर्तमान धारा

साहित्य और समाज

मनुष्य सामाजिक जीव है। जिस प्रकार उसके जीवन का एक व्यष्टि रूप है, उसी प्रकार समष्टि रूप भी। इस सामाजिक आवेष्टन के मध्य ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। उसका व्यक्ति-पुरुष अपनी सत्ता को चरितार्थ करना चाहता है; किन्तु पग-पग पर समाज का अस्तित्व मानकर ही उसे चलना पड़ता है। वह जानता है कि उसके जीवन की गति-विधियाँ समाज के सहस्रों विधि-निषेधों द्वारा सीमाबद्ध हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में वह अपने समस्त कर्मों में स्वाधीन मालूम पड़ता है, किन्तु समाज की परिस्थिति एवं उसकी भाव-धारा के साथ उसका योग-सूत्र कभी विच्छिन्न होने नहीं पाता। अतएव मनुष्य के मन को सर्वथा स्वाधीन मन समझने से काम नहीं चल सकता। जो स्वाधीनता उसकी अपनी नहीं है, वह क्या उसके मन की स्वाधीनता हो सकती है?

साहित्य का मूल स्रोत होता है मनुष्य का जीवन। मनुष्य के जीवन के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन—एक शब्द में, मनुष्य के संपूर्ण जीवन की ही अभिव्यक्ति साहित्य द्वारा होती है। हेनरी हडसन के शब्दों में "साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है—It is fundamentally an expression of life through the medium of language." मनुष्य के इस व्यक्तिगत जीवन को लेकर ही अतीत काल के साहित्य के संबंध में विशेष रूप से आलोचना हुआ करती थी। उसका यह व्यष्टि जीवन समष्टि जीवन द्वारा सीमाबद्ध है, इस बात पर उस समय के आलोचक विशेष ध्यान नहीं देते थे। किन्तु आधुनिक युग में अर्थ-विज्ञान की आलोचना विशेष रूप से होने के कारण और मनुष्य के

सामाजिक जीवन के ऊपर समाज की अर्थनीति का सर्वोपरि प्रभाव होने के फलस्वरूप साहित्य में भी मनुष्य के आर्थिक एवं पारिपार्श्विक जीवन पर विशेष रूप से जोर दिया जाने लगा है। मनुष्य की व्यष्टि-सत्ता के साथ समष्टि का किस प्रकार संघर्ष एवं द्वन्द्व चलता रहता है और इसके परिणामस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में किस प्रकार रूपान्तर होता रहता है; यह बात अतीत काल के साहित्य या समालोचना में विशेष रूप से नहीं पायी जाती। किन्तु वर्त्तमान युग का साहित्य सबसे बढ़कर प्रधानता इस बात को देता है कि मनुष्य के वास्तव जीवन के साथ समाज एवं उसका अर्थनीति का घनिष्ठ संबंध है और उसकी समस्त कर्म-प्रचेष्टाओं पर उसके सामाजिक जीवन की छाप किसी-न-किसी रूप में पड़े बिना नहीं रहती। मनुष्य की सामाजिक परिस्थिति एवं उसके व्यष्टि जीवन के साथ समष्टि के संघर्ष और उसके मन के ऊपर इन सबकी प्रतिक्रियाओं की परीक्षा करने के कारण ही आधुनिक साहित्य भाव-प्रधान न होकर बहुत कुछ वस्तु-प्रधान बन गया है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि समाज-निरपेक्ष मनुष्य का अस्तित्व संभव नहीं। और, समाज में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनका प्रभाव मानव-मन पर भी पड़े बिना नहीं रहता। मनुष्य के मन का यह परिवर्त्तन जब साहित्य में प्रतिफलित होता है, तभी साहित्य में वैचित्र्य की सृष्टि होती है और वह सबके लिये उपभोग्य बन जाता है। युग-युग में मनुष्य के विचारों में यदि परिवर्तन नहीं होते रहते, तो साहित्य के प्राण-रस-धारा में वह सरसता नहीं पायी जाती, जिसके कारण वह मनुष्य के मन को मुग्ध एवं प्रभावित करती रहती है। युग-युग में मनुष्य के विचार, आशा और आकांक्षाओं में परिवर्त्तन होते रहते हैं, उसके सामने नूतन युग नयी-नयी समस्याएँ लेकर उपस्थित होता है और मनुष्य उन्हीं को साहित्य में रूपायित करता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग की विचार-धारा की छाप उस युग के साहित्य पर पड़ती है और उस युग का साहित्य परवर्त्ती युग के मनुष्य को विशेष रूप में प्रभावित एवं अनुप्राणित नहीं करता। मनुष्य के सामने नूतन युग, जो नयी-नयी समस्याएँ लेकर उपस्थित होता है, उनपर वह नये दृष्टिकोण से विचार करता है, उसकी विचार-दृष्टि में आमूल परिवर्तन हो जाता है और अपने इस

परिवर्त्तित दृष्टिकोण को लेकर जब वह अतीत युग के साहित्य पर विचार करता है, तो स्वभावतः उसे अतीत युग के साहित्य से वर्त्तमान युग की समस्याओं का समाधान करने के लिये कोई अनुप्रेरणा नहीं मिलती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस अतीत युग के साहित्य का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं होता। सच बात तो यह है कि प्रत्येक युग का श्रेष्ठ साहित्य अपने युग के प्रगतिशील विचारों द्वारा किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित होता है। और, उस साहित्य में युगवाणी की प्रतिध्वनि होती है, मनुष्य के गभीर रहस्यमय जीवन का कलकल्लोल होता है, वह मनुष्य के सामने एक नूतन आदर्श रखता है, उसके मन में भविष्य के लिये एक नूतन स्वप्न की प्रेरणा उत्पन्न करता है, यही उस साहित्य का उस युग के मनुष्य के लिये श्रेष्ठ अवदान होता है। मानव-मन को इस प्रकार गभीर रूप में प्रभावित करके उसके जीवन को सभी दिशाओं में प्रगतिशील बनाने में ही साहित्य की चरम सार्थकता है। युग-युग में साहित्य जो लक्ष-लक्ष मनुष्यों के मन-प्राण को इस प्रकार प्रभावित करता है, यही उसकी लोकप्रियता का मूल कारण है।

इसलिये किसी युगविशेष के साहित्य पर विचार करते समय हमें उस युग के आदर्श, सामाजिक परिस्थिति एवं भावधारा के साथ साहित्य का जो अविच्छेद्य संबंध है, उसपर विचार करना होगा। जिन वाह्य परिस्थितियों के बीच उस युग के साहित्य ने जन्म ग्रहण किया था, उन वाह्य परिस्थितियों के साथ-साथ लेखक के अन्तर के साथ परिचित होकर ही हम उस साहित्य का यथार्थ परिचय प्राप्त कर सकते हैं और उसके संबंध में सम्यक् विचार कर सकते हैं। युग-साहित्य के इतिहास के मूल सूत्र का सन्धान पाने के लिये हमें चतुर्दिक् की वाह्य परिस्थितियों के प्रति उदार एवं व्यापक दृष्टि रखनी होगी। वर्त्तमान युग के आदर्श एवं भाव-धारा के मानदण्ड को लेकर यदि हम रीति-काल के साहित्य पर विचार करें, तो अवश्य ही वह हमें अकिञ्चितकर मालूम होगा। किन्तु आज की बदली हुई रुचि को लेकर उसपर विचार करना ही असंगत होगा। उस युग की वाह्य परिस्थितियों पर ध्यान रखकर यदि हम तत्कालीन साहित्य पर विचार करें, तो हमें रीतिकाल की कतिपय रचनाओं की भी यह विशिष्टता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि उनके द्वारा साहित्य को

एक अभिनव रूप प्राप्त हुआ और श्रेणी-विभक्त समाज के श्रेणी-विशेष से जीवन की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति हुई। इसलिये वर्त्तमान युग के श्रेणी-हीन समाज के आदर्श को लेकर उस युग के श्रेणी विभक्त समाज के साहित्य के संबंध में विचार करना और उसे हेय सिद्ध करने की चेष्टा करना विचार-बुद्धि की संकीर्णता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

साहित्य की श्रेष्ठता का, उसके मूल्य एवं महत्त्व का एक ही मानदण्ड हो सकता है, और वह मानदण्ड यही है कि जातीय जीवन के साथ—अखिल जनशक्ति की प्राणधारा के साथ—उसका निविड़ संयोग है या नहीं। मनुष्य के विचार, भाव, कल्पना एवं अन्तर को विशेष रूप में आलोकित करने की शक्ति उसमें है या नहीं। वह अपने युग के अधिक-से-अधिक मनुष्यों के जीवन में श्रेष्ठ एवं उच्च आदर्शों की अनुप्रेरणा उत्पन्न करने में समर्थ है या नहीं। वह मनुष्य के जीवन की संकीर्ण परिधि से, पारिवारिक जीवन के प्राचीर-वेष्टित कारागार से मुक्त करके उसके चैतन्य को बृहत्तर एवं व्यापक जीवन के उन्मुक्त वातावरण में परिव्याप्त कर देने में सक्षम है या नहीं। मनुष्य के साथ मनुष्य का जो आत्मीय संबंध है, अन्तर का जो रागात्मक योग है, उस योग को निविड़ करके उसकी अनुभूतियों को गभीर, व्यापक एवं विशाल बनाने में जो साहित्य, जो शिल्प जितना ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ समझा जायगा और उतनी ही उसकी सार्थकता होगी। इस प्रकार के साहित्य पर एक ओर यदि युग की वाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप युग-धर्म की छाप होती है, तो दूसरी ओर उसमें मानव के अन्तर का चिरन्तन सत्य भी सन्निहित होता है, जो युग-युग में उसे वरेण्य बनाये रहता है। मानव-जीवन की यह प्राणोन्मादना एवं दुर्वार गति-वेग ही साहित्य को अमरत्व प्रदान करता है। रोम्यां रल्यां के शब्दों में इस प्रकार का साहित्य धूमकेतु की तरह प्रचण्ड प्राणशक्ति एवं प्रकाण्ड दीप्ति संपन्न होता है, "It is a Comet sweeping eternity".

साहित्य में मनुष्य के नित्य के जीवन की घटनाओं एवं घात-प्रतिघातों की अभिव्यक्ति होती है सही; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार की घटनाओं का यथातथ्य वर्णन कर देने से ही वह साहित्य हो जाता है।

साहित्य के यथार्थवाद और वास्तव जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर है। और वह अन्तर यह है कि वास्तव जीवन की प्रत्यक्ष घटनाएँ जब साहित्य में रूपायित होती हैं, तो वे एक स्वतंत्र वस्तु बन जाती हैं। कवि या शिल्पी उन वास्तव घटनाओं को जब अपने अन्तर की अनुभूति द्वारा हृदयङ्गम करता है और एक अलौकिक आनन्द-रस से उसके प्राण सरसित हो उठते हैं, तभी वह उस आनन्द को वितरण करने के लिये भाषा का आश्रय ग्रहण करता है। स्रष्टा के प्राण-रस का यह स्पर्श ही यथार्थ रूप में साहित्य की सृष्टि करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के Realism या यथार्थ-वाद में जीवन की घटनाओं का परोक्ष प्रकाश होने पर भी वह साहित्य नाम से इसलिये अभिहित होता है कि उसके ऊपर स्रष्टा की अलौकिक रसानुभूति का रंग चढ़ा हुआ होता है। जहाँ इस रसानुभूति के स्पर्श का अभाव होगा, वहाँ सत्य रूप में साहित्य-सृष्टि नहीं हो सकती।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य रस-सृष्टि करना, आनन्द-दान करना है। किन्तु साहित्य द्वारा यह आनन्ददान तभी संभव होता है, जब कि उसकी विषय-वस्तु का संबंध मानव-जीवन से होता है। समाज, राष्ट्र या युग की भावनाओं से सम्पूर्ण विच्छिन्न केवल शून्य के आधार पर कल्पना के जोर से साहित्य-सृष्टि नहीं हो सकती। हाँ, यह अवश्य होता है कि सब देशों में इस प्रकार के कवि या शिल्पी जन्म ग्रहण करते हैं, जो अपने समय के जातीय जीवन का अपनी कृतियों में यथार्थ चित्रण न करके मनुष्य के सार्व-देशिक एवं सार्वकालिक चिरन्तन रूप का चित्रण करते हैं। वे मनुष्य के जिस जीवन-देवता की वाणी सुनाते हैं, वह जीवन-देवता सार्वजनीन एवं सार्व-भौम होता है। वे जातीय जीवन को नये साँचे में ढालने के लिये अपनी कल्पना द्वारा एक आदर्श की अवतारणा करते हैं। वाल्मीकि ने पहले अपनी कल्पना द्वारा एक आदर्श चरित्र पुरुषोत्तम की उद्भावना की होगी और इसके बाद वे अपने उस आदर्श को रामचरित्र के रूप में चरितार्थ करने में समर्थ हुए होंगे। इस प्रकार के कवि जातीय जीवन से ऊर्ध्व अपने मानस-जीवन को साहित्य में प्रस्फुटित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने अपनी विराट् कल्पना द्वारा जिस आदर्श जीवन की अवतारणा की

है, उसके लिये उन्हें समसामयिक जातीय जीवन से अणुमात्र भी प्रेरणा नहीं मिली है। भविष्य के ज्योतिर्मय रूप का स्वप्न देखनेवाला कवि अपनी कविता में यदि उस नवयुग की वाणी हमें सुनाता है जो युग आसन्नप्राय है, तो इसका अर्थ यह है कि कवि ने वास्तव जीवन के कदर्य्य रूप को सुन्दर एवं महत् बनाने के उद्देश्य से ही अपनी हृदय-वीणा के तारों में प्राणों की तान भरकर अपनी अग्नि-रूपी वाणी द्वारा हमें नवयुग का संदेश सुनाया है। इसलिए साहित्य में समसामयिक जातीय जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होने पर भी उसका योग-सूत्र उस जीवन के साथ सर्वथा विच्छिन्न नहीं होता और इस प्रकार के साहित्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य यद्यपि आनन्द दान करना होता है, किन्तु इस आनन्ददान के अन्दर भी समाज के कल्याण-साधन का उद्देश्य सन्निहित होता है।

श्रेष्ठ साहित्य द्वारा हमें अलौकिक रसानन्द प्राप्त होता है। और यह रसानन्द हमें व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्र परिधि से ऊपर उठाकर हमारे चैतन्य, को वृहत्तर जीवन में परिव्याप्त कर देता है। हममें चित्त की गभीरता एवं अनुभूति की विशालता उत्पन्न करता है। हमारी दृष्टि उदार एवं व्यापक बन जाती है, हमारे जीवन का आदर्श महत्तर एवं श्रेष्ठतर बन जाता है और इस जीवन के माधुर्य्य का आस्वादन करके हमारे मन-प्राण मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु, जिस साहित्य में आनन्ददान करने की यह क्षमता होगी, उसका स्रष्टा क्या युग के कल्लोल से सर्वथा अपने को विच्छिन्न रखकर इस प्रकार की साहित्य-सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है? कवि किम्वा शिल्पी की अनुभूति एवं कल्पना में जब तक सत्यनिष्ठा नहीं होगी, तब तक उसके द्वारा रस-सृष्टि हो ही नहीं सकती। हडसन ने ठीक ही कहा है—Without sincerity no vital work in literature is possible. अर्थात् हृदय की सचाई के बिना किसी सजीव साहित्य की सृष्टि संभव नहीं हो सकती। और यह हृदय की सचाई तभी आती है, जब कि कवि या शिल्पी उदार हृदय, गभीर अनुभूति एवं व्यापक दृष्टिकोण लेकर युग की समस्याओं पर विचार करता है और असुन्दर को सुन्दर, क्षुद्र को महत् एवं अपूर्ण को पूर्ण बनाने के लिए अपनी प्रतिभा द्वारा नूतन की सृष्टि करता है। चित्त की

गभीरता एवं अनुभूति की विशालता ही कवि के हृदय में प्रेमप्रस्रवण को प्रवाहित कर देती है, जिससे उसकी प्रतिभा को प्रेरणा मिलती है और वह अपने प्राणरस को अपनी रचना में रूप देकर उसके द्वारा सहृदय रसज्ञ पाठकों के मन में भी प्राणरस का संचार करने में समर्थ होता है। इसलिए सच्चा कवि वही है, जिसने अपने व्यक्तित्व को अखिल लोक में परिव्याप्त कर दिया है, जिसने प्रेम की अन्तर्दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है, उस संबंध को देखा है। और मन-प्राण से उसका अनुभव किया है। हृदय की इस गभीर अनुभूति एवं प्रेम की प्रखरता का प्रकाश जब साहित्य में प्रस्फुटित हो उठता है, तभी वह लौकिक रस से भिन्न साहित्यरस बनकर मनुष्य के अन्तर को रसमग्न कर देता है और उसकी सुकुमार वृत्तियों को निरन्तर झंकृत करता रहता है। इस प्रकार युग एवं काल की घटनाओं एवं समस्याओं के कोलाहल के बीच जिस साहित्य का जन्म हुआ था, वह साहित्य ही अपने अलौकिक साहित्य-रस के बल पर कालान्तर में युग के प्रभावों से मुक्त होकर चिरन्तन एवं शाश्वत रूप ग्रहण करता है।

नवयुग के साहित्य का रूप

साहित्य जाति की प्राण-धारा का संवाहक होता है। वह जाति का दर्पण होता है, जिसमें जाति का स्वरूप प्रतिफलित होता है। इसलिये किसी जाति की महत्ता का विचार करते समय हमें यह देखना होता है कि उसने किस श्रेणी के कवि, दार्शनिक, कलाकार एवं वैज्ञानिक उत्पन्न किये हैं। यदि इनकी रचनाओं एवं कृतियों में प्रकृत सौन्दर्य एवं महत्ता होती है, तो अवश्य ही इससे उस जाति का गौरव बढ़ता है और उस जाति की कभी मृत्यु नहीं होती।

किन्तु साहित्य एवं कला के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत देखे जाते हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि कवि एवं कलाकार का काम है अपनी प्रतिभा के बल से अपने मानस-राज्य में कल्पना-प्रसूत जगत् की सृष्टि करना, आर्ट की मायापुरी में बैठकर कल्पना का सूक्ष्म स्निग्ध जाल बुनना, इस कठोर वास्तव जगत् के सुख-दुःख एवं अभावों के बीच अपनी कल्पनारूपी तूलिका से रंग

बिरंगे चित्र चित्रित करके मन-ही-मन रसानन्द की अनुभूति प्राप्त करना, जहाँ अभिसारिकाएँ घन-निशीथ में अपने प्रियजनों से मिलने जाती हैं, पुर-ललनाएँ महलों में खिड़की के पास बैठकर अगरु के धुएँ में भींगे बालों को सुखाती हैं, हाथ में लीला-कमल, बालों में कुन्द, जूड़े में कुरबक और कानों में शिरीष कुसुम धारण किये हुए विरहिणी अपने प्रियतम की सजल नयन से प्रतीक्षा करती हैं। इस प्रकार के चित्रों की कल्पना करने में कवि एवं कलाकार के कल्पना-विलासी मन को सहज ही स्फुरण मिलता है। किन्तु विद्युत्-प्रकाश से आलोकित सुसज्जित ड्राइङ्ग रूम में अति आरामप्रद सुकोमल सोफा के ऊपर बिजली के पंखे के नीचे सुखपूर्वक लेटा हुआ कवि या कलाकार जिस समय इस प्रकार कल्पना के लीला-निकेतन में स्वप्न देखता हुआ विभोर रहता है, उस समय उसकी कृतियों में चाहे कल्पित सौन्दर्य एवं भावों की विला-सिता का कितना ही प्रदर्शन क्यों न हो मानव-जीवन की वास्तविकताओं के साथ उसका सम्बन्ध बहुत कम होता है। और समाज-जीवन के साथ देश के साहित्य का यदि घनिष्ठ संयोग न हो, तो इस प्रकार की रचनाओं को और चाहे जो कुछ कहें, किन्तु उन्हें साहित्य नाम से अभिहित नहीं कर सकते। समाज के साथ साहित्य ओत-प्रोत भाव से जड़ित रहता है। कला को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं रखा जा सकता। कोटि-कोटि मनुष्यों के सुख-दुःख, हँसी-रुदन, आशा-आकांक्षाओं के साथ साहित्य एवं कला का जो मौलिक सम्बन्ध है, उस संबंध की उपेक्षा करके जो कृतियाँ रचित होती हैं, वे स्थायित्व लाभ नहीं कर सकतीं, उनकी अकाल मृत्यु अवश्यम्भावी है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि साहित्य के राज्य में ज्ञान के साथ कर्म का सम्बन्ध क्या होना चाहिए। कुछ लोग यह समझते हैं कि साहित्य का एक सार्वजनिक विश्व-रूप होता है, जो जाति-विशेष की ऐतिहासिक परम्पराओं को अतिक्रमण करके चलता है, सौन्दर्य के कल्पना-लोक को वास्तव जगत् के धूलि-धूसरित स्पर्श से बचाये रखता है। इस प्रकार के साहित्य का एक स्वयंपूर्ण सौन्दर्य होता है, जो समाज-जीवन के परिवर्तनशील इतिहास की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार के विचारवाले लोग साहित्य को व्यक्ति-विशेष की सृष्टि मानते हैं, उन्हें साहित्य-सृष्टि के मूल में व्यक्ति की सृजन-शक्ति के सिवा और

कुछ नहीं दीख पड़ता। किन्तु साहित्य तो केवल व्यक्ति-सृष्टि नहीं होता, समग्र समाज की अनुभूतियों का उसमें प्रकाश होता है। समाज के समष्टिगत सुख-दुःख की जो अनुभूतियाँ होती हैं, वे ही व्यक्तिविशेष के हृदय के वेदना-बोध को अपना वाहन बनाकर अपने को अभिव्यक्त करती हैं। साहित्य के मूल में समाज के परिवर्तनशील सुख-दुःख की अनुभूतियों का जो मर्म निहित होता है, उसके कारण ही तो सामाजिक मनुष्य को इस प्रकार के साहित्य का रसास्वादन करके आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए वास्तविक जीवन के सम्पर्क से विच्छिन्न साहित्य काल्पनिक विलासिता के व्यसन के सिवा और कुछ नहीं होता। उसमें कल्पना की उड़ान हो सकती है, सुकुमार भावनाओं का स्वप्न-जाल हो सकता है; किन्तु सामाजिक जीवन के कठोर-कर्कश घात-प्रतिघातों के फलस्वरूप मनुष्य के मन की अनुभूति अपने वेग से वाणी को स्पन्दित करके जिस प्राणवन्त साहित्य की सृष्टि करती है, वह साहित्य वह नहीं हो सकता।

कल्चर (Culture) के नाम पर अब तक जिस प्रकार के साहित्य, संगीत, कला आदि की सृष्टि हुई है, उसमें हमने यह मान लिया है कि कल्चर की भी एक विशिष्ट कुलीनता है, आभिजात्य है ; अर्थात् कल्चर मुट्ठी-भर धनी-विलासियों की सम्पत्ति बनकर रहेगी, वह केवल स्वप्न-विलासियों की सौन्दर्य-साधना के रूप में रहेगी। सर्वसाधारण के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं रहेगा। इस प्रकार के साहित्य के लिए हमने धनिकों की अट्टालिका, राजाओं के प्रासाद, वकील-बैरिस्टरों के ड्राइङ्ग रूम और धनी पूँजीपतियों के प्रमोद-उद्यान में उपादान ढूँढ़े हैं ; जहाँ प्रेम का गुञ्जन, पक्षियों का कलकूजन होता हो, जहाँ का वातावरण प्रेम-विह्वल सुर से सदा मुखरित रहता हो, जहाँ चाँद और तारा, फूल और ज्योत्स्नापुलकित यामिनी, विरह और मिलन की धूप-छाया खेलती रहती हो। किन्तु इस प्रकार की कल्चर को ध्यान में रखकर हमने जिस प्रकार के साहित्य एवं कला की सृष्टि की है, उसका परिणाम क्या हुआ है ? धनियों की इस कल्चर ने जाति को महत् नहीं बनाया है, बल्कि कल्चर के नाम पर क्लैव्य की सृष्टि की है। इस कल्चर के उपासक स्वयं कला के उपभोग का आनन्दानुभव करते हुए सर्वसाधारण जनता का इस आनन्द-राज्य से वञ्चित रहना तो अवश्यम्भावी मान ही लेते हैं, इसके सिवा वे

मन-ही-मन इस बात पर प्रसन्न भी होते हैं कि उन्हें कुछ ऐसी वस्तु के उपभोग का अधिकार प्राप्त है, जिसमें सर्वसाधारण जन अपना भाग ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार कल्चर ने इस तथाकथित उच्च वर्ग में एक प्रकार की परिमार्जित अहङ्कार-बुद्धि उत्पन्न कर दी है, जिससे वह अपने से निम्न जन-साधारण के प्रति अनुकम्पा का भाव प्रकट करता है। ऐश्वर्य की गोद में पले हुए चन्द कुलीन धनियों और पूँजीपतियों के लिए रचे गये साहित्य से जाति में उस पौरुष का इस प्रकाश नहीं हो सकता, जिससे जाति महत् बने, उसमें नवजीवन का सञ्चार हो। देश में जो कोटि-कोटि नर-नारी शव-तुल्य निर्जीव बने हुए हैं, दीर्घकाल की अवज्ञा एवं उपेक्षा के कारण जिन्होंने आत्म-सम्मान-बोध को खो दिया है, जिनके ललाट में दासत्व का कलङ्क चिराङ्कित है, जिनके देह-मन-आत्मा शृंखलित हैं, ऐसे मनुष्यों में नूतन तेज, नूतन आशा, नूतन जीवन एवं नूतन चाञ्चल्य की सृष्टि करने की क्षमता जिस साहित्य में हो, वही साहित्य देश के लिए मङ्गलजनक हो सकता है।

कवि एवं कलाकार में जो एक कल्पनात्मक सहानुभूति (Imaginative sympathy) होती है, उस सहानुभूति द्वारा ही तो वह अपनी समस्त सत्ता को लेकर जगत् की वेदना को अनुभव करता है। और इस वेदना को अनुभूति होने पर उसे आर्ट की यक्षपुरी में स्वप्न का जाल बुनते-बुनते जब निपीड़ित महामानव की क्रन्दन-ध्वनि सुनाई पड़ती है, उस समय वह कला एवं सौन्दर्य की आड़ में आत्मगोपन करने की चेष्टा नहीं करता।

सुप्रसिद्ध अँगरेज कलाकार रस्किन का जीवन आर्ट की उपासना के साथ आरम्भ हुआ। एक आर्ट क्रिटिक अर्थात् कला-समालोचक के रूप में उसने पाश्चात्य जगत् में एक नूतन विचार-धारा को जन्म दिया। ३० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही जब रस्किन का विख्यात ग्रन्थ मॉडर्न पेंटर्स (Modern Painters) दो खण्डों में प्रकाशित हुआ, तो सारे यूरोप के कलाविद् उसके पास प्रशंसा-सूचक सन्देश भेजने लगे। उन्होंने इस बात पर हर्ष एवं सन्तोष प्रकट किया कि यह तरुण कलाकार कला का प्रकृत उपासक बनकर उसे एक नूतन दिशा में प्रवर्तित करेगा। किन्तु कलाकार रस्किन को इससे सन्तोष थोड़े ही हुआ, उसने तो अपने कल्पना-प्रसूत तृतीय नयन से निपीड़ित महामानव की दुःख-

दुर्दशा को प्रत्यक्ष किया था, समस्त सत्ता द्वारा जगत् की वेदनाओं का अनुभव किया था। इसलिए उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि उसकी उस कला का मूल्य ही क्या, जिसके मङ्गल स्पर्श से इंगलैण्ड की सर्वसाधारण जनता का हृदय वञ्चित रह जाता है। यदि इंगलैण्ड के प्रति घर में, दरिद्र की कुटीर में आर्ट का मंगल-दीप प्रज्वलित नहीं हुआ, तो मुट्ठी-भर धनिकों के लिए कला की रचना करने में उसकी क्या सार्थकता हो सकती है? अतएव कला-मन्दिर में कला-देवी की उपासना से विरत होकर उसने तत्कालीन प्रचलित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध लिखना आरम्भ किया। इसके लिए कलाकारों ने उसकी तीव्र समालोचना की, व्यङ्ग-बाण से उसे विद्ध किया। समाज में जब तक आर्थिक वैषम्य का अस्तित्व रहेगा, तब तक कला का विकास हो ही नहीं सकता। अपने इस विश्वास के अनुसार ही उसने अपनी लेखनी का प्रयोग किया। रस्किन ने लिखा है:—"Art to be worth anything, must be for the people, not for a few aristocrats and ignorant mill-owners. अर्थात् कला का यदि कोई मूल्य है, तो इसी में कि वह जन-साधारण के लिए हो, न कि मुट्ठी-भर ऐश्वर्यस्फीत कुलीन धनिकों एवं मूर्ख मिल-मालिकों के लिए।" निपीड़ित महामानव का क्रन्दन सुनकर ही तो साहित्य-शिल्पी अनातोले फ्रान्स ८० वर्ष की अवस्था में यौवन-सुलभ विद्रोही आत्मा (Rebellious spirit of youth) धारण करते हुए कम्यूनिस्ट अनातोले फ्रान्स बने, वैज्ञानिक क्रोपाटकिन अनार्किस्ट क्रोपाटकिन बने और रोम्यां रल्यां सर्वहारा के कल्याण के उपासक बने हैं। समाज के सहस्र-सहस्र मनुष्यों के साथ हमारा जीवन ओत-प्रोत भाव से जड़ित है, उसके प्रति हम प्रतिक्षण ऋणी हैं, इस प्रकार की भावना जब मन में उदित होती है, उस समय किसी कवि या कलाकार के लिए अपनी कल्पनाओं को लेकर अपने-आप में मस्त बने रहना सम्भव नहीं होता। जिस क्षण मानवता का विराट बुभुक्ष नग्न रूप नेत्रों के सामने ज्वलन्त रूप में प्रत्यक्ष होता है, उसी क्षण मन कल्पना की उस अलकापुरी से अवतरण करके नीचे इस वास्तव जगत् में आ जाता है। और यहाँ आकर उसे प्रत्यक्ष होता है दीर्घश्वास एवं हाहाकार, शासन एवं शोषण, दारिद्र्य एवं क्लैव्य, अत्याचार एवं

निर्यातन, संघर्ष एवं संग्राम। आखिर कवि और साहित्यिक भी तो मनुष्य ही होते हैं और इस मानव-जगत में ही वास करते हैं! अपने नेत्रों के सामने जगत् का जो नारकीय दृश्य, रोम्यां रल्यां के शब्दों में The spectacle of the world today is hellish उसे दीख पड़ता है, लोभी के निष्ठुर लोभ, प्रबलों के उद्धत अन्याय एवं साम्राज्यवाद के रथ-चक्र के नीचे जब वह दुर्बलों, अशक्तों एवं पराधीनों को निष्पेषित होते देखता है, तो वह उसकी उपेक्षा क्योंकर कर सकता है? पीड़ितों के अश्रुसिक्त इस लवणाक्त दुःख-सागर को वह अस्वीकार करके कैसे चल सकता है?

पुरातन जगत् के कवियों एवं कलाकारों ने अपनी कृतियों द्वारा जहाँ सम्राटों के राजमुकुट, सेनापतियों के रणहुङ्कार, अभिजातवर्ग, पुरोहितों एवं धर्माचार्यों के प्रताप-वैभव का जयगान किया है, रानी-महारानी और बेगमों की विलास-लीलाओं एवं केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन किया है, वहाँ आधुनिक युग का कवि एवं साहित्यिक नव-जगत् के केन्द्र-विन्दु मनुष्य—उस साधारण मनुष्य—का जयगान करेगा, जिसके सिर पर राजमुकुट नहीं है, जिसके मस्तिष्क में ज्ञानराशि सञ्चित नहीं है, बैङ्कों में जिसके रुपये जमा नहीं हैं, जिसके स्वागत में जुलूस नहीं निकलते, समाचार-पत्रों में जिसका चित्र प्रकाशित नहीं होता और जो किसी सभा-समिति का सभापति नहीं बनता। वह होगा खेतों में काम करनेवाला किसान, कल-कारखानों में खटनेवाला मजदूर, जमीन के नीचे खानों में पसीने को रक्त बनानेवाला खनक, सड़कों पर झाड़ू देनेवाला भङ्गी और स्टेशनों पर मोट ढोनेवाला कुली। यह अनादृत, शृंखलित एवं सर्व-अधिकार-वञ्चित मनुष्य साम्य एवं स्वाधीनता के इस युग में कवियों एवं कलाकारों का उपास्य देवता होगा, उसके काव्य एवं चित्रकला का वस्तु-विषय होगा। आज का कवि एवं चित्रकार राजों और महाराजों के मणि-माणिक्य की द्युति में उनकी निष्ठुर लालसा, कामुकता एवं क्रूरता का जो अट्टहास हो रहा है, उसे चित्रित करके हमें दिखायेगा, धनिकों, जमीन्दरों और पूँजीपतियों के ऐश्वर्य एवं भोग-विलास में लक्ष-लक्ष नर-नारियों के शोषण की जो दानवी आकांक्षा छिपी हुई है, पुरोहितों एवं धर्माचार्यों के धर्माडम्बर एवं उपदेशों के अन्तर में कपट एवं भण्डता का जो कौतुक होता रहता है, उसे अपनी कृतियों द्वारा प्रकाश

में लायेगा। वह सौन्दर्य-सृष्टि के नाम पर कर्म के दायित्व को अस्वीकार करने की भीरुता नहीं दिखलायेगा। इस प्रकार की सौन्दर्य-सृष्टि के नाम पर अब तक जिस प्रकार के साहित्य एवं कला की सृष्टि होती रही है, उसकी आड़ लेकर ही तो भीरु और स्वार्थी दल अपने सामाजिक दायित्वों से विरत रहने का बहाना ढूँढ़ता आ रहा है। मनीषी रोम्यां रल्यां ने एक स्थान पर लिखा है : "It has been said of religion that it is the opium of the people. How much more true has it been of art and literature in Europe, during half a century ! They have deadened the public conscience, supplied men with alibis to escape from their social responsibilities, created chapels in which to shut themselves up and take refuge from reality, pretexts to turn their backs on action and to say, 'I wash my hands of injustices.' अर्थात्, धर्म के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह जनता के लिये अफीम-जैसा काम करता है। किन्तु यही बात यदि गत अर्द्धशताब्दी में यूरोप के साहित्य और कला के सम्बन्ध में कहें, तो कितनी यथार्थ होगी। कला एवं साहित्य ने सर्वसाधारण के अन्तःकरणों को जड़वत् बना दिया है, सामाजिक दायित्वों से भागने के लिये लोगों को बहाने प्रदान किये हैं, ऐसे उपासना-मन्दिरों की सृष्टि की है, जिनमें मनुष्य अपने को बन्द करके जगत् की वास्तविकताओं से भागकर आश्रय ग्रहण कर सके और कार्यों से मुख मोड़कर कहे कि "अन्याय होते हैं, तो होने दो, उनसे हमें कोई मतलब नहीं।"

साहित्य के सम्बन्ध में इस प्रकार स्पष्ट रूप में विचार करना आज आवश्यक हो गया है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में आज आदर्श की ज्योति म्लान हो रही है। मनुष्य का व्यक्तित्व आज पददलित हो रहा है। जीर्ण, मिथ्या, पुरातन संस्कारों ने लक्ष-लक्ष मनुष्यों को मोहग्रस्त करके उन्हें इस प्रकार अन्ध बना डाला है कि उनमें किसी प्रकार की आत्मग्लानिजनक भावना रह ही नहीं गयी है। धर्म, नीति, सदाचार, अर्थ, राजनीति जिस क्षेत्र में देखिये,

उसमें ही मनुष्यत्व को खर्व करने के प्रयास हो रहे हैं। मनुष्य को मनुष्य न समझकर उसे यन्त्र समझा जा रहा है। तभी तो लक्ष-लक्ष मनुष्य आज मुट्ठी-भर धनवानों के अर्थार्जन के यन्त्र-साधन हो रहे हैं। उनका काम होता है सारा दिन परिश्रम करना—पत्थर तोड़ना और हथौड़ा पीटना, हँसुआ और कुदाली चलाना, जिससे वे कुछ भाग्यवानों के लिये ऐश्वर्य की सृष्टि कर सकें। किस प्रकार दूसरों की विवशता से लाभ उठाकर उनका शोषण करके अधिक-से-अधिक अर्थ सञ्चय किया जा सकता है और उस अर्थ द्वारा भोग-विलास की सामग्री जुटायी जा सकती है, यही वर्तमान समाज का आदर्श रह गया है।

इसलिये साहित्य के सम्बन्ध में हमारे कवियों एवं कलाकारों को एक नूतन आदर्श को लेकर चलना होगा। जन-साधारण के चरित्र में जो दृढ़ता, जो सरलता, जो धर्म-भाव एवं आदर्शनिष्ठा देखी जाती है, उसे साहित्य में रूप देना होगा। जन-साधारण के चरित से उपादान संग्रह करके इस प्रकार के आदर्श की सृष्टि करनी होगी, जो सब प्रकार की कृत्रिमता से मुक्त होगा। यह आदर्श जन-साधारण के अन्तर में जीवन को उन्नत एवं उदार बनाने की प्रेरणा प्रदान करेगा, उसे नवजीवन प्रदान करेगा, उसके नेत्रों के सामने भविष्य का ज्योतिर्मय रूप अङ्कित करेगा। यह साहित्य जन-साधारण को प्राणदान करेगा, उसके मन में देगा शौर्य, चित्त में देगा निर्भीकता, रक्त में देगा अशान्त महासागर का चाञ्चल्य, नयन में देगा अनागत भविष्य का स्वप्न और हृदय में देगा महाप्राणता। यही साहित्य जन-गण का साहित्य होगा, जिसमें हमें भारतवर्ष के ग्राम और नगर, पर्वत और वन-प्रान्तर, खेत और कारखाने के हजार-हजार नर-नारियों के जीवन की झलक दिखाई पड़ेगी, जिसमें जन-साधारण के हृदय को चञ्चल करनेवाली आशा-आकांक्षाओं का प्रकाश प्रस्फुटित होगा और जो जाति के मुक्ति-पथ को प्रशस्त करेगा।

आज भारतवर्ष अपने साहित्यिकों में गोर्की और टाल्सटाय, रोम्यां रल्यां और हेनरी बारबुस, इब्सन और बर्नार्ड शा, एच० जी० वेल्स और हेरल्ड लास्की को देखना चहता है, जो अपने मन की प्रचण्ड शक्ति को अपनी रचनाओं में प्रकाशित करेंगे, जो अपनी रचनाओं द्वारा दुखी-दरिद्रों एवं

अत्याचार-पीड़ितों के प्रति हमारे मन में करुणा का उद्रेक ही नहीं करेंगे, बल्कि हमारे क्रोधानल को भी प्रज्वलित करेंगे।

साहित्य का सबसे बड़ा काम भी तो यही है कि वह पाठकों के चरित्र में तेजस्विता एवं पौरुष का भाव भरे, उन्हें आदर्श द्वारा अनुप्राणित करे, निर्वीर्य देश में वीर-दल की सृष्टि करे, अन्याय एवं अत्याचार के प्रति निर्जीव मन को उत्तेजित करे तथा सत्यं, शिवं, सुन्दरं के प्रति अनुराग उत्पन्न करे।

यह साहित्य एच० जी० वेल्स के शब्दों में A harmless opiate for vacant mind and vacant hours. खाली दिमागवालों और निकम्मों के लिये एक निर्दोष मादक पदार्थ के रूप में सिद्ध न होकर लक्ष-लक्ष हृदयों में नवजीवन का स्पन्दन तथा उत्पीड़कों के हृदय में भीति की सिहरन उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होगा। यह साहित्य विजयाभियान का पथ-प्रदर्शक, आलोक का केन्द्र एवं प्रेरणा का उत्स बनेगा। यह गान के साथ प्राण, स्वप्न के साथ शौर्य, ज्ञान के साथ कर्म, श्रद्धा के साथ बुद्धि, भाव के साथ रूप, स्थिति के साथ गति और कल्पना के साथ वास्तविकता प्रदान करेगा।

साहित्य-विचार और आधुनिकता

मनुष्य के मनोभाव में, उसके विचारों में परिवर्त्तन होते रहते हैं। युग-विशेष की भावधाराओं की छाप मनुष्य के विचार एवं आचरणों पर न्यूनाधिक रूप में पड़े बिना नहीं रहती। मन की यह परिवर्त्तन-धारा ही साहित्य में विचित्रता की सृष्टि करती है। यह वैचित्र्य ही साहित्य में रस-सृष्टि करता है। मनुष्य की विचार-धारा में यदि परिवर्त्तन नहीं होते रहते, तो उसके साहित्य की प्राण-रस-धारा, उसका आनन्द-प्रस्रवण भी निश्चल एवं शुष्क हो जाता। साहित्य में वह सुरुचिपूर्ण विचित्रता नहीं रह जाती, जिसके कारण साहित्य-रस स्थूल इन्द्रिय ग्राह्य न होकर एक सूक्ष्म अनुभूतिसापेक्ष बन जाता है। साहित्य-रस यदि आम या रसगुल्ला के रस की तरह होता, तो सब लोग एक समान रसना द्वारा उसका आस्वादन कर सकते। इस प्रकार के रसग्रहण में कोई तारतम्य नहीं देखा जाता। किन्तु यह रस सूक्ष्म अनुभूतिसापेक्ष होने

से इसका कोई इस प्रकार का स्थूल मानदंड नहीं हो सकता जिसके द्वारा समान रूप में विचार किया जा सके।

इसलिये केवल देश या काल-विशेष के साहित्य पर विचार करते समय हमें उस युग के मनुष्य की विचारधारा की गति के साथ अविच्छेद भाव से साहित्य का संयोग स्थापित करके उसे देखना होगा। मनुष्य स्वभावतः परिस्थितियों में बँधा रहता है। परिस्थितियों से सम्पूर्ण-विच्छिन्न मनुष्य की विचारधारा विरले ही देखी जाती है। परिस्थितियों के बीच ही मनुष्य के विचार जन्म ग्रहण करते हैं और परिपुष्ट होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य की परिस्थिति एवं उसके अन्तर की गंभीर अनुभूति ही साहित्य-विचार का मूल सूत्र हो सकती है। यही कारण है कि देश, काल एवं व्यक्तिगत रुचिभेद के अनुसार साहित्य-विचार के संबंध में हम मतों की विभिन्नता पाते हैं। साहित्य-विचार के संबंध में कोई स्थूल इन्द्रिय ग्राह्य माप-दण्ड (objective standard) न होने से ही मतभेद देखे जाते हैं। इसके फल-स्वरूप ही साहित्य-समालोचना के संबंध में विभिन्न प्रणालियाँ देखी जाती हैं।

एक समय ऐसा था जब कि साहित्य-दर्पण एवं काव्यप्रकाश के बँधे-तुले नियमों की कसौटी पर ही साहित्य की परख होती थी, काव्य-रचना के संबंध में कुछ स्थूल नियम, कतिपय आदर्श स्थिर कर दिये गये थे। इन्हीं नियमों एवं आदर्शों को ध्यान में रखकर समालोचकगण काव्य के गुण-दोषों का विवेचन किया करते थे। अंग्रेजी में भी आरिष्टट्ल द्वारा काव्य-शास्त्र के जो नियम निर्धारित कर दिये गये थे, उन्हें आदर्श मानकर काव्यों की समालोचना की जाती थी। इन सब नियमों एवं आदर्शों की लीक पर चलते हुए समालोचक-गण देश, काल एवं व्यक्ति गत रुचि-भेद की ओर बहुत कम ध्यान देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि यदि कोई प्रतिभाशाली कवि इन सब विधि-बद्ध आदर्श एवं नियमों को अग्राह्य करके अपनी प्रतिभा के वैशिष्ट्य द्वारा नूतन की सृष्टि करता था, तो समालोचक अपने किसी आदर्श-विशेष द्वारा उसकी परीक्षा करते थे और उसके अनुरूप उसमें त्रुटियाँ परिलक्षित करके उसे दोषपूर्ण सिद्ध करने की चेष्टा करते थे। किन्तु साहित्य-सृष्टि के चतुर्दिक् के

आवेष्टन के साथ यदि गम्भीर परिचय का अभाव हो, उसके अन्तर की चिन्तन-धारा की भूमिका यदि समालोचक के सामने सम्पूर्ण अज्ञात रह जाय, तो केवल आदर्श को लेकर उसके साहित्य के सम्बन्ध में जो विचार किया जायगा, वह असम्पूर्ण एवं मूलतः भ्रमपूर्ण होगा। इसलिये साहित्य-समालोचना-सम्बन्धी आदर्श चाहे कितने ही उदार एवं व्यापक क्यों न हों, उनकी परिधि के अन्तर्गत साहित्य को आबद्ध करके देखने से काम नहीं चल सकता और न देश, काल, रूप, सीमा, द्वारा आबद्ध समालोचनादर्श सब समय के लिये उपयोगी ही माने जा सकते हैं। जिस प्रकार प्रकृति का रूप अनन्त है, उसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करने एवं उसके सम्बन्ध में सौन्दर्य-बोध करने की रुचि भी विचित्र एवं अनन्त हो सकती है। प्रकृति के स्थूल वाह्य रूप में यदि सौन्दर्य है, तो उसके सूक्ष्म अन्तर-रूप में भी एक प्रकार का अनिर्वचनीय सौन्दर्य है। प्रकृति का सम्मोहन रूप किसी को प्रिय है, तो किसी को उसका भीषण रुद्र रूप। वसन्त की शोभा-श्री में यदि सौन्दर्य है, तो वैशाख मास की प्रचण्ड आँधी में भी एक अपरूप सौन्दर्य है। शरद् की ज्योत्स्ना-पुलकित यामिनी यदि एक ओर हमारे मन-प्राण को मुग्ध कर देती है, तो दूसरी ओर भादो महीने की अमा-रजनी में अपने उभय कूलों को तरंगाघात से भंग करती हुई, प्रखर प्रवाह में बहनेवाली नदी में भी कम सौन्दर्य नहीं है। इसलिये लिटन स्ट्रैची के शब्दों में प्रकृति को सौन्दर्य-बोध की किसी विशिष्ट प्रणाली में बाँधकर नहीं रखा जा सकता—"Nature is too large a thing to fit into a system of aesthetics".

एक समय ऐसा था जब कि काव्यशास्त्र के प्राचीन आदर्श को मानकर चलनेवाले पंडितों में यह धारणा प्रचलित थी कि संस्कृत के कवियों में 'शिशुपालवध' के रचयिता माघ का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्। नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।" अर्थात, कालिदास की ख्याति केवल एक गुण उपमालंकार को लेकर थी। किन्तु माघ कवि में उपमा, अर्थ-गौरव एवं पदलालित्य, तीनों गुण एक साथ पाये जाते हैं। इसलिये तत्कालीन समालोचकों की दृष्टि में माघ कवि सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। किन्तु संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन करनेवाले रसज्ञों से यह बात छिपी

नहीं है कि संस्कृत-साहित्य में कालिदास के काव्य एवं नाटकों की जितनी लोकप्रियता हुई, उतनी और किसी कवि के काव्य की नहीं। विदेशी समालोचकों की दृष्टि में कालिदास की रचनाओं का, विशेषकर उनके 'शकुन्तला' नाटक का जो महत्त्व है, वह अन्य किसी काव्य या नाटक का नहीं। जर्मन महाकवि गेटे तो कालिदास की शकुन्तला पर इतना मुग्ध था कि उसने इसकी प्रशंसा में यहाँ तक कह डाला कि :—

> Wouldest thou the young years blossom and fruits of its decline. And by which the soul is charmed, beautitude feasted, fed.
> Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combined,
> I name thee, O Shakuntala, and all at once is said !

इसी प्रकार विख्यात जर्मन समालोचक शेलजेल (Schlegel) ने कालिदास की प्रशंसा में 'an idyllic and sentimental Sophocles' विशेषण का प्रयोग किया है। कालिदास ही की भाँति शेक्सपीयर-जैसे महाकवि के संबंध में भी अठारहवीं शताब्दी तक इङ्गलैंड के समालोचकों में यही धारणा प्रचलित थी। आरिस्टाटल के काव्यादर्श की कसौटी पर परीक्षा करके देखने से शेक्सपीयर की कृतियों में उन्हें कितनी ही त्रुटियाँ प्रतीत होती थीं, जिनके कारण शेक्सपीयर को महाकवि मानने में उन्हें कुण्ठाबोध होता था। किन्तु बाद में चलकर गेटे, शेलिंग, कोलरिज, हैजलिट और लैम्ब-जैसे कवियों एवं समालोचकों को शेक्सपीयर के नाटकों में मानव-मन के अति गंभीर अन्तस्तल का, उसके रहस्यों का, उसके उदात्त सौन्दर्य एवं भीषण कदर्य रूप का एक अपूर्व सन्धान मिला और शेक्सपीयर की प्रतिभा सर्वत्र समादृत हुई।

बाद के समालोचकों द्वारा यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ कि कवि की कृतियों की सम्यक् समालोचना करने के लिये कवि-जनोचित दृष्टि एवं कल्पना अपेक्षित है। समालोचक को स्वयं कवि बनकर कवि के मनोजगत् में प्रवेश

करना होगा और पक्षपात-बुद्धि-हीन होकर कवि को समझने की चेष्टा करनी होगी। किसी निर्दिष्ट नियम अथवा आदर्श द्वारा कवि का विचार करने से काम नहीं चल सकता और न उसको प्रतिभा के मूल उत्स का सन्धान मिल सकता है। किसी कवि की कृतियों की आलोचना करने के लिये उसके साहित्य को अखण्ड दृष्टि से देखना आवश्यक है। सुप्रसिद्ध समालोचक क्रोचे के मत से किसी कवि की समालोचना करने के लिये उस कवि की सतह तक समालोचक को ऊपर उठना होगा। ड्रायडन के मत से कवि श्रेष्ठ समालोचक भी होता है।

साहित्य-समालोचना भी मौलिक साहित्य-सृष्टि के समान ही सरस हो सकती है, यदि समालोचक कवि की कृतियों के मूल-सूत्र को पहचानकर उसके अखण्ड सौन्दर्य पर आलोकपात करने की सहृदयतापूर्वक चेष्टा करें। छिद्रान्वेषण की बुद्धि लेकर काव्य की समालोचना करना समालोचना के मौलिक उद्देश्य के सम्बन्ध में अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। रस, ध्वनि, उक्तिवैचित्र्य, अलंकार आदि के एक-एक लक्षण को लेकर काव्य के स्थल-विशेष की समालोचना करने से काव्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं हो सकता। किसी मनोरम राज-प्रासाद के सौन्दर्य की सम्यक् उपलब्धि के लिये समग्र प्रासाद को अखण्डित रूप में ही देखा जाता है। उर्मिमय सागर की शोभा, उसकी विशालता एवं अखण्डता में ही है। कमल या गुलाब के फूल का सौन्दर्यबोध उसकी एक-एक पँखुड़ी को पृथक् करके देखने से नहीं हो सकता। उसी प्रकार काव्य के स्थल-विशेष को लेकर उसके गुण-दोष की विवेचना करने से काव्य या नाटक का प्रकृत सौन्दर्य उपलब्ध नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण काव्य अखण्डित रूप में ग्रहण करके उसके मूल-सूत्र का सन्धान करना होगा। तभी समालोचना-द्वारा उस काव्य का अन्तर्निहित सौन्दर्य एवं रसबोध परिस्फुट हो सकता है। युग-विशेष के साहित्य के इतिहास का मूल सन्धान प्राप्त करने के लिये उसके चतुर्दिक् आवेष्टन के प्रति उदार दृष्टि रखनी होगी। वसन्त के कुसुमित कुसुम के इतिहास को जानने के लिये जिस प्रकार बाहर के आकाश एवं आलोक का परिचय जानना होता है, मुक्त वायु के साथ योगसूत्र स्थापित करना होता

है, उसी प्रकार साहित्य का परिचय प्राप्त करने के लिये दृष्टि की बहिर्मुखी गम्भीरता एवं अन्तर की सहृदयता अपेक्षित होती है

प्राचीन साहित्य की परिधि परिमित थी। साहित्य-सृष्टि का भार बहुत थोड़े-से लोगों के ऊपर था। साहित्य में मानव-जीवन के उपादान तो होते थे, किन्तु उस जीवन में समष्टि-जीवन की झाँकी नहीं मिलती थी। जीवन को अखण्ड रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति उस समय के साहित्यिकों में बहुत कम देखी जाती थी। उस समय के साहित्य में श्रेणी-विशेष के सुख-दुःख एवं आशा-आकांक्षा की ही अभिव्यक्ति होती थी, सर्वसाधारण जनता के जीवन का उसमें प्रकाश नहीं होता था। किन्तु इस समय साहित्य का साधारणीकरण हो रहा है। साहित्य-सृष्टि की क्षुधा सार्वजनिक हो रही है। साहित्य के उपादान भी समष्टि-जीवन और उसके सुख-दुःख एवं आशा-आकांक्षा हो रहे हैं।

वर्तमान हिन्दी-कविता को ही लीजिये। ब्रजभाषा के काव्य के अत्यन्त परिमित एवं संकुचित क्षेत्र को छोड़कर जब हिन्दी-कविता ने खड़ी-बोली के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय ब्रजभाषा के हिमायतियों द्वारा खड़ी-बोली की कविता के विरुद्ध यह आन्दोलन उठाया गया था कि खड़ी-बोली कविता के उपयुक्त हो ही नहीं सकती। इसमें न वह सौष्ठव है और न वह माधुर्य, जो कविता को रसमयी बनाता है। किन्तु बाद में चलकर खड़ी-बोली की कविता के विरुद्ध ब्रजभाषा के समर्थकों की सारी आशंकाएँ निमूल सिद्ध हुईं और खड़ी-बोली का काव्य-प्रवाह उत्तरोत्तर परिमार्जित एवं परिपुष्ट होता गया। कविता के अन्तरंग एवं बाह्यांगों का सुन्दर विकास हुआ और छायावादी युग में पहुँचते-पहुँचते खड़ी-बोली की कविता इतनी प्रौढ़ बन गयी कि उसमें भावना, कल्पना एवं अनुभूति के नित नूतन सौन्दर्य एवं माधुर्य के दर्शन होने लगे। कविता के विषय भी, पहले के समान शुष्क एवं स्थूल शृंगारिकता अर्थात् वाह्य-सौन्दर्य की स्थूल मुद्राओं एवं इंगितों तक ही परिमित न रहकर प्राकृतिक सौन्दर्य के व्यापक क्षेत्र से ग्रहण किये जाने लगे। मानव-हृदय की कोमल सुकुमार-भावनाओं को लेकर, प्रकृति-सौन्दर्य के विभिन्न—विचित्र रूपों को लेकर, श्रेष्ठ आलम्बन के रूप में ग्रहण करके या उन्हें एक सजीव व्यक्तित्व प्रदान करके, हिन्दी में अत्यन्त मधुर एवं श्रेष्ठ गीत-

काव्य की सृष्टि हुई, जिसकी तुलना किसी भी साहित्य की श्रेष्ठतम काव्य-सम्पद् से की जा सकती है। छायावादी युग में नवयुग-प्रवर्त्तक कवियों ने नूतन भावों के साथ-साथ नूतन छन्दों को भी अपनी कविता का वाहन बनाया। काव्य की प्राचीन रूढ़ियाँ बन्धन-स्वरूप चली आती थीं। उनसे उन्होंने अपने को मुक्त किया। तभी उनकी काव्यरचनाओं में प्राण-प्रवाह तरंगायित होने लगा।

हमारी कविता पर इस समय विदेशी साहित्य का प्रभाव विशेष रूप में पड़ रहा है। इसके लिये दुःख करने या लज्जित होने का कोई कारण नहीं। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के ऊपर भी फ्रांसीसी, जर्मन और इटालियन भाषा एवं साहित्य का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। कविता में नये-नये विषय एवं नये भाव, नूतन छन्द एवं नूतन शैली का समावेश हो रहा है। कविता का सम्बन्ध मानव-जीवन की स्थूल प्रवृत्तियों, मनोभावों एवं विभिन्न समस्याओं के साथ घनिष्ठ रूप में हो रहा है। इसलिये एक श्रेणी के समालोचक 'शाश्वत साहित्य की रचना नहीं हो रही है' यह कहकर उसके विरुद्ध खड्गहस्त हो रहे हैं। किन्तु उन्हें यह जान रखना चाहिए कि शाश्वत कविता की सृष्टि नहीं हो रही है, इसलिये वर्त्तमान काल के तरुण कवियों को काव्य-गगन से बहिष्कृत कर देना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता।

युद्धपरवर्त्ती आधुनिक साहित्य

गत महासमर के बाद से मनुष्य के विचार-जगत् में एक नूतन प्रकार के आलोड़न का सूत्रपात होने लगा, जिसका आभास हमें पाश्चात्य साहित्य एवं शिल्पकला में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा। युद्धकाल में यूरोप की विभिन्न जातियों के बीच जिस प्रकार वैर-विरोध एवं संघर्ष हुआ था, उसी प्रकार उनमें परस्पर मिलन भी संघटित हुआ था। शत्रु एवं मित्र पक्ष की ओर से विभिन्न जातियों के सैनिकों ने—जो अब तक एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित थे—एक साथ युद्ध किया था और वर्षों एक साथ सैन्यशिविर में रहे थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि साधारण मनुष्यों के दृष्टिकोण में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। उनके मनोभाव जो अब तक एक-राष्ट्रीयता की सङ्कीर्ण परिधि में ही

आबद्ध थे, व्यापक एवं उदार बन गये। इस व्यापक एवं उदार मनोवृत्ति की छाप साहित्य एवं कला पर भी पड़े बिना नहीं रही। साहित्य अब किसी देश-विशेष के सुख-दुःख एवं आशा-आकांक्षा की क्षुद्र परिधि तक ही सीमाबद्ध नहीं रह गया। उसके ऊपर अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ने लगा। इस साहित्य ने व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र, नीति एवं धर्म के सम्बन्ध में अपने आदर्श को तथा मनुष्य को देखने और उसके सम्बन्ध में विचार करने की दृष्टिभङ्गी को बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया है। इस दिशा में पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा उसकी प्रगतिशीलता अनेकांश में बढ़ गयी है। युद्ध के पूर्व साहित्य को पृष्ठ-भूमि (Background) में मनुष्य की जीवन-यात्रा की जो स्निग्धता, कोमलता, सरलता एवं निश्चिन्तता तथा नर-नारियों की जीवन-लीलाओं में जो माधुर्य एवं स्नेह-शीलता दीख पड़ती थी, वह अब नहीं रह गयी। मनुष्य की जीवन-प्रणाली तथा समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं में परिवर्तन होने के साथ-साथ साहित्य के आदर्श में भी परिवर्तन होने लगा और अब न उस काल के मनुष्य-जीवन-जैसा जीवन ही रह गया और न वह साहित्य ही। जीवन की गति सरल एवं अविच्छिन्न न होकर जटिल एवं विशृंखल बन गयी। जीवन का सूत्र बार-बार छिन्न-भिन्न होने लगा और उसके साथ नूतन-नूतन सूत्र जोड़े जाने लगे। इसी प्रकार विच्छिन्न एवं विशृंखल रूप में मनुष्य की जीवन-यात्रा चलने लगी और नित्य नयी-नयी समस्याओं के साथ उसका सम्पर्क होने लगा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है; इसलिये उसे पग-पग पर समाज का अस्तित्व मानकर चलना पड़ता है। इसके सिवा बिना किसी अवलम्ब के मन के लिये शून्य में विचरण करना सम्भव भी नहीं है—उसे कोई-न-कोई अवलम्ब चाहिए ही। यह अवलम्ब है समाज एवं प्रकृति। इसलिये समाज एवं प्रकृति के साथ मनुष्य का जो संयोग-सूत्र है, वही साहित्य का प्राण है। समाज के साथ मनुष्य का सम्बन्ध-सूत्र ज्यों-ज्यों शिथिल होता गया, उसके जीवन की जटिलताएँ भी बढ़ने लगीं। जब वह जीवन ही नहीं रह गया, तब फिर उस जीवन के प्रतिफलित होने की आशा हम साहित्य में क्योंकर कर सकते हैं? स्वर्गीय प्रेम की कहानी और सनातन प्रेम के आदर्श को लेकर अब साहित्य की रचना

नहीं होती। गृह-परिवार के निरापद आश्रय से विच्छिन्न होकर जीवन अज्ञात अनन्त भविष्य की ओर अग्रसर होने लगा। अतीत काल की राष्ट्र-नीति, समाज-नीति एवं धर्म-नीति के साथ जीवन का सम्बन्ध शिथिल होने लगा। जीवन-यात्रा इतनी सरल एवं निश्चिन्त नहीं रह गयी कि मनुष्य केवल गृह-परिवार के प्रेम एवं स्नेह माधुर्य को लेकर ही मग्न रहे। अब किसी के भी मन में आशा-भरोसा नहीं रह गया, विश्वास एवं निश्चयता नहीं रह गयी। छककर प्रेम-रस के माधुर्य का आस्वादन करें—इतना समय और अवकाश ही अब जीवन में कहाँ रह गया? अब तो क्षणभर के लिये प्रेम करना और फिर श्रान्त-क्लान्त पद से जीवन के भार को वहन करते हुए जीवन-पथ पर अग्रसर होना—क्षण भर की इस मधुर-स्मृति को लेकर ही जीवन को सरस बनाना पड़ता है। इससे अधिक प्रेम करने का अवसर या अवकाश तो विरले ही को मिलता है।

युद्धपरवर्ती साहित्य आज इस प्रकार के जीवन को ही प्रतिबिम्बित कर कर रहा है। यह साहित्य आज ऐसे लोगों की जीवन-कहानी को चित्रित कर रहा है, जिन्हें पग-पग पर भाग्य-विडम्बना सहन करनी पड़ती है, जो जीवन में आघात-पर-आघात सहन करते हैं, मस्तक पर दुःख का जयमुकुट और ललाट में अपराध की कालिमा धारण करके समाज का व्यंग्य-विद्रूप सहन करते हुए भी आगे बढ़ते जाते हैं, जो एक बार आगे बढ़कर फिर लौटना या पीछे मुड़कर देखना नहीं जानते, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्देह एवं संशय, अश्रद्धा एवं अविश्वास का भाव प्रकट करते हैं तथा मन में सब कुछ के प्रति एक प्रकार का अतृप्ति-भाव पोषण करते हैं। इसके लिये साहित्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मनुष्य की जीवन-धारा ही आज इस प्रकार कुटिल वक्र गति से प्रवाहित हो रही है।

सब कुछ के प्रति मनुष्य का मन जो आज विद्रोही हो उठा है और विद्रोह की इस भावना का जो स्पष्ट प्रकाश हमें युद्धपरवर्ती साहित्य में दीख पड़ता है, इसका कारण क्या है? इसका कारण भी हमें गत महायुद्ध के अन्दर ही ढूँढ़ना होगा। उस महायुद्ध में मनुष्य के रक्त की नदी बह चली थी। धनिकों के स्वार्थ की बलि-वेदी पर कितने ही नगर-नगरी, कल-कारखाने, हरे-भरे खेत ध्वस्त-विध्वस्त हो गये। राष्ट्रीयता के नाम पर धनिक समाज ने एक देश के किसान-

मजदूरों को दूसरे देश के किसान-मजदूरों के विरुद्ध मनुष्य का शिकार करने के लिये उत्तेजित कर दिया। राष्ट्रीय सङ्गीत, काव्य, व्याख्यान और साहित्य में यह रक्त-लोलुप नृशंसता गौरवमय हो उठी। किन्तु इसके साथ-साथ पूँजीवादी समाज की नींव भी हिल उठी। युद्ध को केन्द्र करके जिस विश्वव्यापी आर्थिक सङ्कट का सूत्रपात हुआ, उससे प्रचलित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध साधारण मनुष्य के मन में भी विद्रोह की भावना जाग्रत हुए बिना नहीं रही। सोया हुआ गणसिंह जाग उठा। शोषित एवं पददलित मानव के नवोत्थान एवं नव-जागरण की कल-ध्वनि से देश-विदेश मुखरित होने लगे। उधर रूसी विप्लव की सफलता ने अत्याचारी जार के शासन को विध्वंस करके पूँजीवादी समाज के मर्मस्थल पर कुठाराघात किया। शोषण की शृंखलाओं को चूर्ण-विचूर्ण करके शोषित सर्वहारा दल ने विजयी लाल झण्डा उड़ाते हुए अपनी जययात्रा आरम्भ की। मानव-समाज दो दलों में विभक्त हो गया—एक धनिक दल और दूसरा निःस्व सर्वहारा दल। दोनों का पार्थक्य क्रमशः स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगा। एक ओर सोशलिस्ट समाज का विजयाभियान और दूसरी ओर पूँजी-वाद समाज के जराजीर्ण कलेवर में घुन लगना शुरू हुआ। अपने अस्तित्व एवं स्वार्थ की रक्षा के लिये धनिक सभ्यता अत्यन्त व्यस्त हो उठी। इसलिये इस घात-प्रतिघात के युग में जिस साहित्य की सृष्टि हुई, उसमें कोमल कल्पना का स्थान कठोर सत्य एवं समस्या ने ग्रहण किया। अब रोमाण्टि-सिज्म के स्निग्ध कोमल कल्पना-लोक से निकलकर साहित्य को कठोर एवं कर्कश वस्तु-स्थिति का सामना करना पड़ा। अब साहित्य एवं कला पर धनिक समाज का ही एकछत्र अधिकार नहीं रह गया। बुर्जुआ साहित्य की स्पर्द्धा में शोषितों का साहित्य भी उठ खड़ा हुआ। प्रगतिशील नव सोशलिस्ट समाज के अग्रदूत शोषित किसान-मजदूरों की विप्लवी मनोवृत्ति का रेखा-चित्राङ्कण प्रगतिशील साहित्य द्वारा होने लगा और इस प्रकार युद्धपरवर्ती विप्लवी साहित्य का प्रचार संसार के विभिन्न देशों में आरम्भ हो गया।

वर्तमान विश्व-साहित्य महायुद्ध के बाद आज इसी अवस्था में आ पहुँचा है। पुरातन आदर्श आज हमारे देश के नूतन साहित्य से भी उसी प्रकार अन्तर्हित हो रहे हैं, जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्य से। अब गल्प-उपन्यास

एवं काव्य के प्रेमी-प्रेमिकाएँ व्यर्थ मनोरथ होकर हा हताश ! नहीं करते ; रात-रातभर जागकर प्रेम-पत्रिकाओं की रचना नहीं करते, तकिया के नीचे मु ह छिपाकर आँसू नहीं बहाते, उपन्यास के चार-छः पृष्ठों में प्रणय-निवेदन नहीं करते। अनुतप्त प्रेमिक अपनी भूतपूर्व प्रणयिनी को बहिन कहकर सम्बोधन नहीं करते और न प्रेम के व्यापार में असफल होकर विरक्त हृदय लेकर समाज-सुधार या देशोद्धार के लिए संघ या आश्रम की स्थापना करते हैं। सारांश यह कि रोमाण्टिक युग के प्रेम एवं प्रणय की छाया तक वर्तमान युग के साहित्य में नहीं पायी जाती।

मनुष्य के अंतर की यह विद्रोह-भावना केवल रोमान्स या प्रेम की दिशा में ही नहीं, बल्कि अन्य दिशाओं में भी साहित्य द्वारा व्यक्त होने लगी है। धर्म, नीति, सदाचार आदि अब तक जो कुछ मनुष्य के मन पर अप्रतिहत भाव से शासन करते आ रहे थे, उन सबके शासन की भित्ति आज शिथिल होने लगी है। धर्म एवं नीति के मापदंड में संपूर्ण परिवर्तन हो गया है। पिता-माता के आदेश उनकी संतान के लिए अब पूर्ववत् वेदवाक्य की तरह अलंघनीय नहीं रह गये ; धर्मशास्त्रों में जो कुछ लिखा हुआ है, उसमें अपरिवर्तन नहीं हो सकता, वे बुद्धि एवं तर्क से परे हैं—इस प्रकार की धारणा को आज मन में स्थान देना तक असंगत प्रतीत होने लगा है। शिक्षकों एवं अध्यापकों के मुख से केवल आदर्श की स्तुति-प्रशंसा सुनकर उनके छात्र आज उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए तैयार नहीं होते। वे अपने शिक्षकों के जीवन में उन आदर्शों को चरितार्थ होते देखना चाहते हैं। कानून और सरकार के प्रति जो एक प्रकार की भयमिश्रित श्रद्धा नागरिकों में पायी जाती थी, वह भी अब अविचलित नहीं रह गयी है। अब राज और कानून की मर्यादा एवं सार्थकता को हम वहीं तक मानने के लिए तैयार हैं, जहाँ तक वे हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की वाणी की छाप वर्तमान युग के मनुष्य के प्रत्येक आचरण एवं व्यवहार में प्रत्यक्ष हो रही है। मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर का स्थान हमारे अन्तर में आज नहीं रह गया है। टाल्सटाय और ह्विटमैन, गोर्की और रोम्यां रल्यां, हेराल्ड लास्की और बर्नार्ड शा पढ़कर हमने मनुष्य का महत्त्व एवं मूल्य आँकना सीखा है। पातञ्जल के

ब्रह्मचर्य एवं संयम की अपेक्षा फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान और 'Libido' के प्रति हमारा आकर्षण विशेष होने लगा है। बर्टण्ड रसल और लिण्डसे की पुस्तकों को पढ़कर हमने प्रेम के सम्बन्ध में नूतन रूप से विचार करना सीखा है। विवाह-बन्धन की पवित्रता में पहले-जैसा अखण्ड विश्वास अब नहीं रह गया है। हमारी दृष्टि में आज नर-नारी के मिलन का एकमात्र बन्धन प्रेम ही रह गया है। इस बन्धन के विच्छिन्न हो जाने पर पति-पत्नी का एक साथ रहना निरर्थक ही नहीं, उनके व्यक्तित्व के विकास में अन्तराय-स्वरूप है। ऐसी अवस्था में उन्हें विवाह-विच्छेद द्वारा पुनर्विवाह करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इतना ही नहीं, पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं को पढ़कर हमने यह भी सीखा है कि विवाह के पूर्व भी तरुण-तरुणियों को परस्पर स्वच्छन्द भाव से मिलने-जुलने और प्रेमालाप करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। अवैध संतान जिसे हम कहते हैं, उसका अस्तित्व अब एकदम नहीं रह जाना चाहिए। बच्चे का जन्म चाहे जिस रूप में नर-नारी के यौन-मिलन-द्वारा हो, वह सब अवस्थाओं में वैध ही समझा जाना चाहिए। बाकी रह गयी थी ईश्वर के प्रति श्रद्धा और उसके अस्तित्व में अखंड विश्वास। उस श्रद्धा और विश्वास की जड़ भी मार्क्स और लेनिन की रचनाओं की कृपा से हिलने लगी है और मन में संदेह एवं संशय के भाव उदित होने लगे हैं। धर्म का स्थान आज विज्ञान देवता ने ग्रहण कर लिया है और इस विज्ञान-देवता की अद्भुत करामातों पर ज्यों-ज्यों हमारी श्रद्धा बढ़ती जाती है, धर्म और ईश्वर के प्रति त्यों-त्यों हमारा विश्वास शिथिल होता जाता है। इस प्रकार अतीत के संयोग-सूत्र से सम्पूर्ण विच्छिन्न होकर हमने जीर्ण पुरातन आदर्शों के प्रति अश्रद्धा करना और अभिनव एवं चमत्कारपूर्ण के प्रति आकृष्ट होकर उन्हें ग्रहण करना सीखा है। अतीत के निरापद आश्रय का परित्याग करके सामने के नूतन मनोमोहक श्यामल स्वर्ग पर हमारी दृष्टि निबद्ध हो रही है। यह मार्ग हमारे लिए शुभ होगा या अशुभ, यह प्रश्न हमारे मन में उठता ही नहीं। द्वन्द्व एवं संघर्ष के बीच से होकर फेनिल सागर की लहरों के साथ क्रीड़ा करने में हमें आनन्द मिलता है, बस इस आनन्द-लाभ के लिए ही हमने उन्माद-समुद्र में गोता लगाया है।

अति आधुनिक विश्व-साहित्य के नायक-नायिकाओं के जीवन में, उनके

विचार-जगत् में आज इस प्रकार का मंथन एवं आलोड़न ही हम प्रस्फुटित होते देख रहे हैं। वर्त्तमान युग की विभिन्न एवं बहुरूपी समस्याओं को लेकर मनुष्य के अन्तर में जो द्वन्द्व चल रहा है, उसके मन में घात-प्रतिघात की जो प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, उनका ही प्रतिरूप हमें उस मन्थन एवं आलोड़न में दीख पड़ता है। आधुनिक मानव-जीवन की इन जटिल समस्याओं की उपेक्षा करके आज का कोई साहित्यिक चल नहीं सकता। ये समस्याएँ ही आज साहित्य के प्राण हो रही हैं—इनके साथ अपने को जड़ित कर देने में ही साहित्य की सार्थकता है।

अति आधुनिक साहित्य के नायक-नायिकाओं ने जहाँ धर्म, नीति एवं सदाचार के सनातन आदर्शरूपी पाषाण-प्राचीर को भंग करना आरंभ कर दिया है, वहाँ उन्होंने जीवन के किसी तत्व को अपनी ओर से प्रतिपादित करने की चेष्टा नहीं की है। वे आपके सामने कोई नूतन आदर्श उपस्थित करके उसकी महिमा आपके मन पर अंकित करने की चेष्टा नहीं करते। अपने जीवन की किसी फिलॉसफी को लेकर उसे प्रमाणित करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं देखी जाती। किसी भी अति आधुनिक उपन्यास को आप पढ़कर देख लीजिये, उसके तीन-चार सौ पृष्ठों में आप नायक-नायिकाओं को जीवन की कोई फिलॉसफी या तत्त्व प्रमाणित करते नहीं पायेंगे। उनके जीवन में इतना अवकाश ही कहाँ? किसी तत्व को प्रमाणित करने के लिए नायक को अपने लक्ष्य से फिर प्रत्यावर्त्तन करना पड़ता है। किन्तु अति आधुनिक विश्व-साहित्य के नायक-नायिकाओं में कोई लौटकर नहीं आता। असीम, अज्ञात भविष्य के अन्धकारपूर्ण गह्वर में जब तक विलीन न हो जायँ, तब तक वे केवल आगे बढ़ते ही जाते हैं।

अति आधुनिक साहित्य के मूल में हम प्रधानतः एक वैज्ञानिक मनोवृत्ति पाते हैं। यह मनोवृत्ति प्रकृत सत्य पर चाहे वह कितना ही उच्छृंखल, दुर्नीति-मूलक एवं पापपंकिल क्यों न हो, आवरण डालने की चेष्टा नहीं करती। वह मिथ्या को सत्य बताकर पाठकों के मन को विभ्रान्त करना नहीं चाहती। अति आधुनिक साहित्य की इस सत्यनिष्ठा में कोरी कल्पना, मोह, पुरातन संस्कार आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। प्राचीन साहित्य के प्रति इसका प्रधान अभियोग यही है कि वह मिथ्या एवं पाखंड से परिपूर्ण है, उसमें मिथ्या को

सत्य बताकर, काच को सोना कहकर, स्वप्न को वास्तव रूप में चित्रित करके सर्वसाधारण के मन को मोहग्रस्त बनाये रखने की चेष्टा की गयी है। अति आधुनिक साहित्य इस प्रकार मिथ्या को सत्य रूप में, स्वप्न को वास्तव रूप में ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं है। वह वैज्ञानिक दृष्टि लेकर सत्यासत्य पर विचार करता है। जो स्पष्ट है, जो तर्क एवं युक्ति की कसौटी पर ठहर सकता है, जो इन्द्रियग्राह्य है, जो मनुष्य के अनुभवों द्वारा परीक्षित है, वही उसकी दृष्टि में सत्य है। जो कठोर सत्य का स्पर्श सहन नहीं कर सकता, जो युक्ति-तर्क के आलोक में मलिन एवं विवर्ण हो जाता है, उसका ध्वंस हो जाय—यही अति आधुनिक साहित्य को अभिप्रेत है। कला में सत्यं, शिवं, सुन्दरं—इस त्रिमूर्ति को वह स्वीकार करना नहीं चाहता। यह केवल सत्य को लेकर चलना चाहता है और एकमात्र सत्य को ही स्वीकार करता है। शिवं और सुन्दरं के सनातन आदर्श भी उसे मान्य नहीं हैं। समग्र मानव को, मनुष्य की समग्र अनुभूतियों को लेकर वह चलना चाहता है। शिव और सुन्दर की संकीर्ण मनोवृत्ति को वह मानसिक दुर्बलता एवं अक्षमता समझता है। नीति एवं धर्म के नाम से समाज में जो कापुरुषता, नैतिक भीरुता, मिथ्याचार एवं भंडता चल रही है और सौन्दर्य के नाम पर जो नकारात्मक विधि-निषेध और गतानुगतिकता चल रही है, उनका यथार्थ रूप वह प्रकट कर देना चाहता है। इस निर्भीक सत्यनिष्ठा के कारण ही अति आधुनिक साहित्य को आज वह काम करना पड़ रहा है, जिसके लिए प्रवीण साहित्यिकों की ओर से उसपर व्यंग्य-विद्रूप एवं निन्दा के शर-जाल निक्षिप्त हो रहे हैं। अति आधुनिक साहित्यिकों के हाथ से आज अनेक सनातन चिरपोषित आदर्श एवं कल्पित मूर्तियाँ सिंहासन से च्युत होकर धूलिसात हो रही हैं। उनकी रचनाओं में आज विद्रोह की उग्रता ही विशेष रूप में प्रकट हो रही है। अति-आधुनिकता में हम एक प्रकार की तीक्ष्ण विचार-शक्ति एवं तार्किकता पाते हैं, जो किसी प्रकार के जोड़-तोड़, सत्य-मिथ्या के सम्मिश्रण को सहन नहीं करती। इससे पुरातन आदर्शों के कोमल तरु के मूल में भले ही कुठाराघात होता हो, उसे इसकी परवाह नहीं।

इस प्रकार अति आधुनिक साहित्य में हम प्रत्येक दिशा में एक नूतन

नास्तिकता का अवलोकन कर रहे हैं। इस नास्तिकता को देखकर हमारा भीत एवं सशंकित होना स्वाभाविक है; क्योंकि यह सर्वथा नूतन है और हमारे चिरपोषित आदर्श एवं धारणाओं पर निष्ठुर रूप में आघात करती है। किन्तु इसकी दुर्वार गति का प्रतिरोध करना अवश्य ही हमारे लिए कठिन है। युक्ति एवं तर्क इसके पक्ष में हैं, जिसके सामने हम केवल पुरातन आदर्शों की पवित्रता की दोहाई देकर टिक नहीं सकते। सभी देशों के साहित्य में नूतन आदर्श की सृष्टि करने के लिए इसी प्रकार साहित्यिकों के एक दल को नास्तिक बनकर विद्रोह का सुर ऊँचा करना पड़ा है। हमारा देश भी आज एक महान् विप्लव के अन्दर से होकर गुजर रहा है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई निर्दिष्ट पथ या नीति दृष्टिगोचर नहीं होती। सर्वत्र एक प्रकार का Chaos, विशृंखला एवं अस्त-व्यस्तता दीख पड़ती है। परस्पर-विरुद्ध जटिल आदर्शवाद के प्रबल संघर्ष में पड़कर प्रतिदिन मनुष्य के मन में अनन्त समस्याओं और उद्भ्रान्त विचारों की क्रिया-प्रतिक्रिया हो रही है। साहित्य की सनातन नीति एवं आदर्श, मनुष्य का आदिम रोमान्स, नर-नारी का चिरकालीन सम्पर्क, समाज की मर्यादा एवं शृंखला—सबकी स्थिति आज डाँवाडोल हो रही है। यही कारण है कि साहित्य की यह आधुनिकता आज सम्पूर्ण स्पष्ट नहीं हो रही है और आधुनिक साहित्यिकों में भावी काल के लिए महत् सृष्टि करने की जो प्रतिभा अन्तर्हित है, उसका स्पष्ट प्रकाश नहीं हो रहा है। महत् की सृष्टि एक दिन में ही नहीं होती। अति आधुनिक साहित्य में आज जो दुःखवाद, नैराश्य, वेदना, उच्छृंखल भाव, अपमानित प्रेम, उद्भ्रान्त आदर्श, सनातन नीतिनिष्ठा के प्रति विद्रोह, सब बातों में सन्देह, संशय और अविश्वास तथा नाना प्रकार की जटिल समस्याओं का आलोड़न दीख पड़ रहा है, वह साहित्य-क्षेत्र में किसी विराट् प्रतिभाशाली नायक के अवतीर्ण होने पर नहीं रह जायगा। इस प्रतिभा के प्रकाश में आज की सारी विशृंखलता विलीन हो जायगी और एक सबल सशक्त जीवन का आदर्शवाद साहित्य में प्रस्फुटित हो उठेगा। यह आदर्शवाद ही एक नूतन युग का अग्रदूत बनकर नूतन मानव-सभ्यता की स्थापना करेगा। युद्धपरवर्ती अति आधुनिक साहित्य के प्राणों के अन्दर से हमें उसी भावी युग का स्निग्धोज्ज्वल संकेत मिल रहा है।

कला और नीति का सम्बन्ध

कला के साथ सुनीति का सम्बन्ध क्या होना चाहिए, इस विषय को लेकर प्लेटो और अरिस्टाट्ल के युग से ही वाद-विवाद होता चला आ रहा है, और इस वाद-विवाद का कभी अन्त होगा, इसकी सम्भावना भी नहीं दिखाई पड़ती। एक समय ऐसा था जब हम साहित्य एवं कला में जीवन के किसी महत् आदर्श का सन्धान करते थे। उस समय कला में नीति एवं सदुपदेश की ही प्रधानता पायी जाती थी। अवश्य ही यह सुनीति प्रच्छन्न हुआ करती थी। किन्तु अब जीवन के आदर्श में जिस द्रुत गति से परिवर्तन हो रहे हैं, उसके अनुसार कला में भी सुनीति का वह प्रमुख स्थान नहीं हो सकता, जो पहले था।

किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि कला के साथ सुनीति का कोई सम्बन्ध है ही नहीं। सच बात तो यह है कि कला के श्रेष्ठत्व की परीक्षा केवल इस बात को लेकर नहीं हो सकती कि उसके द्वारा सुनीति का प्रचार हो रहा है अथवा दुर्नीति का। श्रेष्ठ कला के सम्बन्ध में सुनीति एवं दुर्नीति का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार अन्यान्य मानवीय आदर्शों में परिवर्तन होते जा रहे हैं, उसी प्रकार सुनीति के सम्बन्ध में भी हमारी धारणाओं में परिवर्तन हो रहा है। इसलिये सुनीति के सम्बन्ध में किसी परम्परागत धारणा को मानकर कला बराबर उसी का अनुसरण करती रहे, यह सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार की प्राचीन धारणाओं में अपने को आबद्ध रखकर कला जीवित नहीं रह सकती।

कला का काम है अनवद्य सौन्दर्य की सृष्टि करना—वह सौन्दर्य जो हमारे अभ्यास, हमारे विचार एवं हमारी अनुभूतियों को समुन्नत, उदात्त एवं समस्वर-विशिष्ट बनावे, उसके माधुर्य एवं मर्यादा में वृद्धि करे। श्रेष्ठ कला केवल सौन्दर्य की दृष्टि से ही महान् नहीं होगी, बल्कि नैतिकता की दृष्टि से भी। क्योंकि श्रेष्ठ एवं महान् मन लेकर ही श्रेष्ठ कला की सृष्टि की जा सकती है। कलाकार अपने मन के गोपन प्रदेश में किसी महत् आदर्श का पहले पोषण करता है और तब उसके मन में जो उदार भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं को वह कला में वाह्य रूप देने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की कला पाठकों या

उस कला के उपयोग करनेवालों के मन में भी स्रष्टा के अनुरूप उदार भावनाओं को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती। कलाकार का काम वहीं समाप्त होता है, जहाँ वह सत्यनिष्ठा का परिचय देता है। उसकी कृति उसके रुग्न मन एवं विकृत बुद्धि का परिचायक नहीं होनी चाहिए। कलाकार की कृति यदि सम्पूर्ण एवं अखण्ड है और अपने इस अखण्ड रूप में वह हमारे मन में एक अनिर्वचनीय सौन्दर्यानुभूति एवं मनोरम शक्ति की सृष्टि करती है, तो अवश्य ही वह सब प्रकार से सार्थक एवं उत्तम कही जायगी। उसके द्वारा सुनीति की प्रेरणा मिलती है अथवा दुर्नीति की, यह तो पाठकों या कला-पारखियों की रुचि एवं सौन्दर्य-बोध पर निर्भर करती है। व्यक्तिगत रुचि या सौन्दर्य बोध के अनुसार एक ही कलाकृति किसी की दृष्टि में सुन्दर और किसी की दृष्टि में कुत्सित प्रतीत हो सकती है। किसी पुस्तक को पढ़कर या किसी कलात्मक चित्र को देखकर भिन्न-भिन्न पाठक और चित्र-पारखी उसकी भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्या कर सकते हैं।

रस्किन के अनुसार श्रेष्ठतम कला वही कही जायगी, जो पाठकों या द्रष्टाओं के मन में अधिक-से-अधिक संख्या में भावों को वहन कर सके; और रस्किन के मत से वही भाव श्रेष्ठ एवं महान् कहा जायगा, जो भाव ग्रहण करनेवाली हमारी बोध-वृत्ति को संचालित एवं समुत्थित करे। इसलिये कला की महत्ता उसकी भावना एवं कल्पना की पूर्णता में है—अर्थात् वह भावना जो किसी महत् भाव का द्योतक हो, केवल शोभा-सौन्दर्य का ही द्योतक नहीं।

महात्मा गांधी ने कला के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है। एक बार शान्ति-निकेतन के किसी छात्र के प्रश्न करने पर गांधीजी ने कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। उनके मत से "वास्तविक कला वही है, जो मनुष्य को उसके आत्मस्वरूप की उपलब्धि में सहायता पहुँचावे। आत्मा के समुत्थान में जो बाधा उत्पन्न करे, वह कला न होकर कला के नाम पर भ्रम एवं प्रवंचना है—कपट-जाल है। कला-कृतियों का मूल्यांकन केवल एक ही दृष्टि से हो सकता है और वह है उनके द्वारा आत्मोपलब्धि में हमें कहाँ तक सहायता मिलती है। जब मनुष्य सत्य में सौन्दर्य का दर्शन करने लग जायँगे, तभी वास्तविक कला की सृष्टि होगी।" गांधीजी के कथन का स्पष्ट अभिप्राय

यह है कि केवल कला के लिये कला की सृष्टि कोई अर्थ नहीं रखता। सुन्दर के साथ सत्य का समावेश अवश्य होना चाहिए। किन्तु प्रत्येक सत्य में सौन्दर्य का दर्शन सम्भव हो सकता है या नहीं, यह कहना कठिन है। यदि किसी कलाकार की कृति में दुर्नीति का समावेश पाया जाता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि दुर्नीति को मोहक रूप में दिखाने के लिए ही उसने उसका चित्रांकण किया है। सत्य ही कला का मूलाधार है, उसका जीवन है, उसकी आत्मा है; इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु दुर्नीति एवं कदर्य का चित्रांकण भी तो कलाकार इसी सत्य की खातिर करता है। दुर्नीति भी उतनी ही सत्य है जितनी सुनीति। इसलिये कलाकार यदि दुर्नीति को मोहक एवं मनोमुग्धकर रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उसे वास्तविक समझकर उसका चित्रांकण करता है तो अवश्य ही वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसने दुर्नीति अथवा कलाकार का एक सम्पूर्ण वास्तव रूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। और उसके इस चित्रांकण में ही उसकी कला की सत्यनिष्ठा अन्तर्हित है; अर्थात् यदि उसने वास्तव दुर्नीति या अश्लील का चित्रांकण किया है, तो वह अवश्य ही पाठकों या द्रष्टाओं के मन में विराग एवं वितृष्णा उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता। जो अश्लील है, वह चाहे कितना ही रमणीय क्यों न हो, किन्तु उसका संपूर्ण प्रभाव मानव-मन पर अवश्य ही जुगुप्साजनक होगा। सच्चा कलाकार अपनी कला-कृति में यदि इस बात का प्रदर्शन करता है कि मानव-मन स्वभावतः ही दुर्नीति या अश्लील की ओर आकर्षित होता है और इसलिये वह दुर्नीति का उसके प्रलोभनकारी गुणों के साथ चित्रांकण करता है, तो इसके साथ ही उस कला-कृति के अन्दर उसकी यह भावना भी प्रच्छन्न रहती है कि प्रारम्भ में दुर्नीति चाहे कितनी ही मनोमुग्धकर क्यों न प्रतीत हो, किन्तु अन्ततः एक समय ऐसा अवश्य आता है जब मन उस ओर से सर्वथा विरक्त हो जाता है और पाठक यह धारणा लेकर पुस्तक समाप्त करता है कि दुर्नीति का परिणाम जीवन के लिये कभी मंगलजनक नहीं हो सकता।

कलाकार का काम उपदेश या शिक्षा प्रदान करना अथवा सुनीति का प्रचार करना नहीं है। सुनीति अथवा दुर्नीति, श्लील अथवा अश्लील किसी

का भी वह प्रत्यक्ष रूप से पक्ष ग्रहण नहीं करता और न उनके सम्बन्ध में कोई मतामत अपनी कलाकृतियों में प्रकट करता है। वह अपने पाठकों या समालोचकों के सौन्दर्य-बोध पर अपने विचारों को लादने का प्रयास नहीं करता। पाठक या समालोचक अपने सौन्दर्य-बोध के अनुसार उसकी कला-कृति की परीक्षा-समीक्षा करता है, उसका रसास्वादन करता है और अपने मनोभाव के अनुसार उससे शिक्षा ग्रहण करता है—यदि इस प्रकार की कोई शिक्षा उसमें प्रच्छन्न भाव से पायी जा सके। श्रेष्ठ कलाकार में व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा एवं सुरुचि-कुरुचि से ऊपर उठने की वह देवदुर्लभ क्षमता होती है, जिससे वह सुन्दर के ध्यान में अपने मन-प्राण को संपूर्ण तल्लीन कर देता है। उस अवस्था में उसके ध्यानमग्न चित्त को पार्थिव वासनाओं का कालुष्य स्पर्श नहीं कर सकता। सब प्रकार की मलिन वासनाओं एवं आसक्तियों से मुक्त उस विशुद्ध आनन्द की उन्मादना में जब कवि की अन्तरात्मा सराबोर हो जाती है तब उस दिव्य अलौकिक आनन्द-सागर से ही कला का शतदल कमल प्रस्फुरित हो उठता है। इस प्रकार वासना-गन्ध-हीन मुक्त मन लेकर जब कलाकार सत्य के वास्तविक रूप को देखता है, उस समय उसके द्वारा जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है,उसको लेकर श्लीलता एवं अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता। श्लीलता एवं अश्लीलता का प्रश्न तो तब उठता है जब कलाकार का मन व्यक्तिगत कामनाओं की धूलि-राशि से समाच्छन्न रहता है, जिससे सत्य का वास्तविक रूप उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

यही कारण है कि श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियों में हम सत्य की जो प्रचण्ड दीप्ति पाते हैं, उस दीप्ति में हमें मानव-जीवन का समुज्ज्वल रूप उसके मनुष्यत्व की महिमा एवं चरित्र की गरिमा ही देखने को मिलती है। इस महिमा एवं गरिमा के ज्योतिर्मय आलोक में जीवन की क्षुद्र घटनाओं एवं त्रुटि-विच्युतियों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जीवन की प्रकाण्ड शक्ति एवं दुर्वार गतिवेग में सारे कालुष्य न मालूम कहाँ-के-कहाँ बह जाते हैं। शेक्सपियर और इब्सन के नाटकों में, ब्राउनिंग की कविताओं में तथा टालस्टाय, गुस्ताभ फ्लावर्ट, रम्या-रल्यां, रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र के उपन्यासों में हम पाप एवं व्यभिचार का वर्णन पाते हैं और साथ ही यह

भी पाते हैं कि इनके लेखकों ने दुर्नीति एवं कदाचार की निन्दा में अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं कहा है। इतना ही नहीं, बल्कि इनकी कृतियों में उपर्युक्त प्रसंगों का वर्णन भी काफी आकर्षक एवं मनोरम रूप में किया गया है। फिर भी क्या कोई कह सकता है कि इनका प्रभाव हमारे मन पर अच्छा नहीं पड़ता अथवा इन सब रचनाओं को पढ़कर हमारी रुग्न मनोवृत्ति जाग उठती है ?

इसके विपरीत इनके रसास्वादन से हमें जीवन में एक नूतन प्रेरणा मिलती है। सत्य के प्रखर प्रकाश में अन्तर का अन्धकार आलोकित हो उठता है और शक्ति का प्राचुर्य हमें जीवन की क्षुद्रताओं एवं दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने, धर्म एवं समाज की अर्थहीन रूढ़ियों एवं बन्धनों से मन-प्राण को मुक्त करने तथा पुरातन से नूतन पथ की ओर अग्रसर होने में सहायता पहुँचाता है। यही कला की सत्यनिष्ठा है और इस सत्यनिष्ठा में ही हमें कला का वास्तविक सौन्दर्य देखने को मिलता है। जिस कलाकार में जीवन के प्रति यह अन्तर्भेदी दृष्टि, यह सत्यनिष्ठा नहीं होगी, वही प्रवृत्ति की उद्दामता एवं भोग की लास्य लीलाओं का मोहक वर्णन करने में अपनी बौद्धिक लम्पटता का परिचय देगा।

कलाकार का धर्म

अभी तक कला की कोई निश्चित परिभाषा नहीं बन सकी है। कला कला के लिए, कला प्रयोजन के लिए, कला जीवन के लिए, कला केवल रस-सृष्टि के लिए—इस तरह की अनेक व्याख्याएँ कला के सम्बन्ध में की जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि कला वहीं है, जहाँ केवल निस्तब्धता—अनुभूति है। दूसरे लोग कहते हैं—कला है जीवन की व्याप्ति या सम्प्रसारण ; और कोई-कोई यह भी कहते हैं कि जहाँ सुख-दुःख का एकत्र समावेश होता है, वहीं कला का जन्म होता है। इस प्रकार अनेक मनीषी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ किया करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कलामात्र का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना

है। हमारे मग्न चैतन्य के अन्तराल में जो वेदना एवं आनन्दमय अनुभूति सुप्त रहती है, जगत् की अनन्त विचित्र लीलाओं द्वारा जब वे सब अनुभूतियाँ सौन्दर्य-सृष्टि के रूप में आत्म-प्रकाश करती हैं, तभी कला का जन्म होता है। प्रकृत कला हमारे मन के निर्जन प्रदेश के गोपन स्थल को हमारे मानस-नेत्र के समक्ष प्रकाशित कर देती है, और इसके फलस्वरूप हमारा चित्त अपरिसीम, निराविल आनन्द के प्राचुर्य से शराबोर हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला के सम्बन्ध में अनुभूति ही सबसे बड़ी बात है। जहाँ अनुभूति नहीं है, वहाँ कला नहीं है, जीवन नहीं है, शिल्प एवं साहित्य भी नहीं है।

इस प्रसंग में एक बात और जान लेना आवश्यक है। कला का जन्म मूलतः वेदना में होता है। यह वेदना है अनुभूति की वेदना, अज्ञेय को ज्ञेय बनाने की वेदना। यह वेदना हमारे चित्त को जाग्रत एवं सचकित कर देती है। यह वेदना बड़ी दुःसह एवं मधुर होती है। वेदना-सागर के मथित एवं आलोड़ित होने पर जिस आनन्दसुधा का निःसरण होता है, उससे हमारे मन-प्राण स्निग्ध और सरस बन जाते हैं। निहत क्रौंच के अभाव में काममोहिता क्रौंची की जो वेदना हुई थी, उस वेदना की निविड़तम-अनुभूति से ही तो काव्य का जन्म हुआ था। कला का मूल उत्स भी तो यही है। कला हमारी अनुभूति को व्यापक एवं हमारे व्यक्तित्व को प्रसारित करके हमें एक नूतन जगत् में प्रवेश करने का पथ प्रदर्शित कर देती है, हमारी कल्पना के लिए खुराक जुटाती है, हमारे मन में नव-नव प्रेरणाएँ उत्पन्न करती है और हमारे जीवन को महत् एवं उदार बनाती है। सब समय में संसार के सब देशों के काव्य, साहित्य, संगीत, चित्र, भास्कर्य आदि ललित-कलाओं ने इस निविड़ वेदना को ही सुन्दर-सरसरूप प्रदान किया है।

कला का जन्म वेदना में है, और वेदना की यह निविड़ अनुभूति कभी शब्दों के जादू के स्पर्श से काव्य में, कलाकार की तूलिका के कोमल स्पर्श से चित्त में और अनुपम मूर्ति के रूप में पाषाण के कठिन गात्र में सौन्दर्य की—रस की—सृष्टि करती है। कलाकार अपने मन के अन्तःपुर में वेदना की अनुभूति को चिरकाल तक पालन करने के बाद जब उसे रूप देने के

लिए व्याकुल हो उठता है, तभी उसके प्राण-रस के माधुर्य से सिक्त होकर उसकी वह अनुभूति काव्य, संगीत, चित्र एवं भास्कर्य के रूप में आत्म-प्रकाश करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलाकार के अन्तर में जब तक अनुभूति की स्वतःस्फूर्त्त तीव्र प्रेरणा नहीं होती, तब तक उच्च कोटि की कला का जन्म नहीं हो सकता। किन्तु अन्तर के इस गम्भीर भावावेग के साथ-साथ कलाकार में जब तक दृष्टि नहीं होगी, तब तक वह प्रकृत कलाकार नहीं हो सकता। विश्व-प्रकृति में अनन्त रूप-सौन्दर्य का जो लीला-वैचित्र्य चल रहा है, उसके रूप एवं रस का आस्वादन करने के लिए अनुभूति के साथ-साथ सृष्टि का भी संयोग चाहिए। जिस कलाकार में सजीव अनुभूति नहीं होगी, जिसका कला का मानस-चक्षु उन्मीलित नहीं हुआ, वह ऐसी कला की सृष्टि नहीं कर सकता, जो चिरन्तन एवं शाश्वत हो। उच्च कोटि का कलाकार आत्म-प्रसाद के लिए ही कला की सृष्टि करता है, दूसरों की प्रेरणा से नहीं। चेष्टा करके कोई श्रेष्ठ कलाकार नहीं बन सकता।

कलामात्र का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना है, इस बात को मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती; किन्तु इस सौन्दर्य के साथ क्या सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं होगा? सत्य से विच्छिन्न सौन्दर्य कभी उच्च कोटि का सौन्दर्य नहीं हो सकता। रस्किन के शब्दों में "Great art dwells on all that is beautiful." सत्य एवं सुन्दर का समन्वय होने से ही कला में हम धूमकेतु का दुरन्त गति-वेग पाते हैं। सम्पूर्ण सत्य को लेकर कला द्वारा रस-सृष्टि का कार्य नहीं चल सकता; यह बात भी सत्य है; क्योंकि प्रचार करना सब समय कला का धर्म नहीं होता और विशुद्ध कला का जन्म प्रचार के उद्देश्य से नहीं होता। फोटोग्राफी कला नहीं है। क्यों? इसलिए कि फोटोग्राफी के साथ केवल सत्य का सम्बन्ध है। चित्रकला कला है: क्योंकि कलाकार के अन्तर के माधुर्य के स्पर्श से वहाँ सत्य सुन्दर में रूपान्तरित हो जाता है। जहाँ केवल रस-सृष्टि के नाम पर मानव-मन के दुर्बल केन्द्रों पर आघात करके उसकी मत्त प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने की चेष्टा की जाती है, वहाँ कला की हत्या हुए बिना नहीं रहती।

प्रथम श्रेणी के जो साहित्यिक होते हैं, उनकी रचनाओं में हम

ऐसे चरित्र को पाते हैं, जिनकी जीवन-घटनाओं की सबसे बड़ी विशेषता होती है उनमें कृत्रिमता का अभाव। कोई भी चरित्र अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। हम अपने जीवन का ही प्रतिरूप उन चरित्रों में पाते हैं। साधारण मानव-जीवन के अभाव-अभियोग, त्रुटि-विच्युति एवं दुर्बलताओं को लेकर जहाँ महत्, उच्च एवं उदार चरित्र की सृष्टि होती है, वहाँ इसका परिपाक जिस रूप में होता है, उस रूप में ऐसे चरित्रों द्वारा नहीं होता, जिनके साथ सत्य का सम्पर्क नहीं होता। जिन चरित्रों के चतुर्दिक् एक प्रकार की अपार्थिव महिमा की सृष्टि की जाती है, वहाँ कलाकार की कल्पना सत्य से बहुत दूर जा पड़ती है, और इस प्रकार का चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक-जैसा प्रतीत होने लगता है। रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द्र के उपन्यासों में हमें उनकी प्रतिभा का जो गौरवमय प्रकाश दीख पड़ता है, उसका कारण यह है कि उनके अधिकांश चरित्र ऐसे हैं, जिनके साथ उनकी प्रत्यक्ष अभिज्ञता थी। उनके जीवन के साथ घनिष्ठ रूप में परिचय प्राप्त करने का उन्हें सुयोग मिला था। शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिन नर-नारियों का चरित्र-चित्रण हम पाते हैं, वे नर-नारी ऐसे हैं, जिनमें हम अपने अत्यन्त सन्निकट एवं परिचित व्यक्तियों की प्रतिछवि पाते हैं। इनमें कोई भी हमारे लिए अपरिचित नहीं और न इनमें हम कोई अलौकिक एवं अपार्थिव बात ही पाते हैं। सत्य के साथ गम्भीर रूप में सामंजस्य रहने के कारण ही उनके चरित्र-चित्रण में कला का उत्कर्ष इस प्रकार प्रस्फुटित हो उठा है। इसलिए कला का उत्कर्ष। परिपूर्ण रूप में तभी प्रस्फुटित होता है, जब कि सत्य के साथ उसका सम्पर्क बना रहता है। सत्य से विछिन्न सौन्दर्य-सृष्टि में कला का परिपूर्ण विकास सम्भव नहीं होता।

साहित्य का उद्देश्य प्रचार नहीं, वक्तृता नहीं, शुष्क एवं शुद्ध ज्ञान भी नहीं। साहित्य का कारबार भाव-राज्य को लेकर चलता है। साहित्यिक भावों के भण्डारी होते हैं। किन्तु भाव-राज्य का सम्बन्ध भी तो आखिर मनुष्य को लेकर ही है। मानव-जीवन के सम्पर्क से विछिन्न केवल शून्य में ही कल्पना की सृष्टि नहीं हो सकती। साहित्यिक के चित्त में कल्पना का जो आलोड़न होता है, उसका आधार भी तो मानव-जीवन ही

होता है। साहित्यिक अपने युग, अपने समाज, अपनी परिस्थिति को सर्वथा अतिक्रमण करके महाशून्य में विचरण नहीं कर सकता। समाज के घात-प्रतिघात में ही उसकी सृष्टि होती है। इसलिए सहित्यिक को हम समाज से पृथक् करके नहीं देख सकते। और इस समाज-जीवन से ही साहित्य के उपादान प्राप्त होते हैं। इस जीवन के सुख-दुःख को लेकर ही साहित्यिक कल्पना-राज्य में भावों की क्रीड़ा करता है—उपदेश के रूप में नहीं, मनुष्य की अन्तर-महिमा के संस्पर्श से समवेदना के शक्ति-रूप में। यह समवेदना ही जड़ में प्राण-स्पन्दन कर देती है, प्राणों की प्रेरणा से उन्मत्त बना डालती है।

अब तक साहित्य-रचना के लिए उपादान ढूँढ़ने में हमारे साहित्यिकों ने जनसाधारण के जीवन की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया है। पुरातन जगत की जरा-जीर्ण समाज-व्यवस्था का चित्र-चित्रण ही हमें उस साहित्य में ज्वलन्त रूप में दीख पड़ता है। उनमें राजा-महाराजाओं, रानी-महारानियों, योद्धा-महारथियों के जीवन की जयध्वनि ही हमें सुनाई पड़ती है। हमारे ही पड़ोस में जो अज्ञात, अवज्ञात, उपेक्षित नर-नारी वास करते हैं, उनके जीवन में भी प्रेम-स्नेह की करुण सुन्दर लीला हो सकती है; उनके चरित्र में भी हमें दृढ़ता, तेजस्विता, सरल धर्म-भाव एवं आदर्श-निष्ठा मिल सकती है—इस ओर हमारे साहित्यिकों ने अभी तक कम ही ध्यान दिया है। किन्तु इस प्रकार के साधारण नर-नारियों के चरित्र से, उनके जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन से साहित्य-रचना के लिए जो उपादान ग्रहण किये जाते हैं, वह साहित्य भी साहित्य-रस-पिपासुओं द्वारा कम समादृत नहीं होता। डस्टोवेस्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' और अलेक्जेंडर कुप्रिन के 'यामा, दि पिट' नामक उपन्यासों में साधारण मनुष्य के जीवन की सुख-दुःख की कहानी ही चित्रित हुई है। फिर भी साहित्य के दरबार में उनका कम आदर नहीं है। शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द्र की प्रतिभा का वैशिष्ठ्य भी इसी बात में है कि उन्होंने अपने साहित्य के लिए साधारण—अति साधारण मनुष्यों के जीवन से ही उपादान ग्रहण किये हैं। उनके चरित्रों में हम अपने आस-पास के अवज्ञात मनुष्यों का ही प्रतिबिम्ब देख पाते हैं और उनमें अपने जीवन की ही कहानी न्यूनाधिक रूप में पढ़ते हैं।

कलामात्र का उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है, और इस सौन्दर्य के साथ सत्य का संपर्क विच्छिन्न नहीं होना चाहिए, इस प्रश्न पर विचार करने के बाद एक और प्रश्न यह उठता है कि सत्य एवं सुन्दर के साथ मंगल का सम्पर्क कहाँ तक होना चाहिए। साहित्यिकों में एक दल ऐसे लोगों का भी है, जो वास्तविक समाज की घटनाओं के प्रति एक प्रकार से उदासीन भाव धारण किये रहते हैं। मानव-हृदय की विभिन्न प्रवृत्तियों का अनुशीलन एवं विश्लेषण करके उनमें जिस प्रवृत्ति को आधुनिक समाज में सबसे प्रबल एवं शक्तिशाली पाते हैं, उसे किस प्रकार कौशल के साथ परिचालित करने से उनका स्वप्न सत्य होगा, और उनकी कल्पना का समाज एवं ध्यान का मनुष्य स्वप्न आविर्भूत होकर पृथ्वी को सुन्दर, कल्याण-मय एवं शान्ति-प्रेम द्वारा मधुर बनायेगा, इसी की साधना में साहित्य-रचना की सार्थकता समझते हैं। उनका कहना है कि आज जो घटनाएँ संघटित हो रही हैं, उनका चित्र तो हमारी आँखों के सामने है ही, उन्हें नूतन रूप देकर समाज का कौन-सा मंगल-साधन किया जा सकता है? मननशीलता एवं ध्यानधारणा, विज्ञान एवं दर्शन, राजनीति एवं साहित्य का मूल्य ही क्या हो सकता है, यदि उससे समाज का मंगल नहीं हुआ? इस श्रेणी के साहित्यिक कला को समाज के उपकारार्थ वाहन बनाना चाहते हैं। वस्तुवादी साहित्य-रचना को वे नीतिहीन एवं अश्लील बताकर उसे समाज के लिए अमंगलजनक समझते हैं। किन्तु वस्तुतः यदि देखा जाय, तो उच्च श्रेणी के साहित्य के सम्बन्ध में सुनीति एवं दुर्नीति, श्लीलता एवं अश्लीलता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अश्लीलता हमारे अन्तर की वस्तु नहीं है। जिस साहित्य में हमें अश्लीलता की गन्ध मालूम पड़ती है, वह भी सजीव एवं प्राणवन्त हो सकता है। त्याग एवं कामगंधहीन प्रेम (Platonic love) का आदर्श वर्णन होने से ही कोई रचना उच्च साहित्य की मर्यादा को प्राप्त नहीं कर सकती, उसी प्रकार किसी रचना में मनुष्य की यौन-प्रवृत्ति का उद्दाम वर्णन होने से वह साहित्य नाम को सार्थक नहीं कर सकती। जिन्हें साहित्य का यथार्थ ज्ञान है, जिन्होंने रस-माधुर्य का आस्वादन किया है, उनकी दृष्टि में सुनीति एवं दुर्नीति दोनों में

एक भी साहित्य का मूल उपादान नहीं है। मनुष्य के अन्तर में जो सब प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं, उनमें किसी एक के उद्दाम वेग को प्रश्रय देने से वह मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। वह या तो अतिमानव बन जाता है अथवा पशु। केवल एक प्रवृत्ति को लेकर मनुष्य का गठन नहीं होता। उसके अन्तर में विभिन्न प्रवृत्तियों की विचित्र लीला चलती रहती है। इसलिए जिस साहित्य में नारी के प्रति पुरुष की, किंवा पुरुष के प्रति नारी की उद्दाम वासना का आतिशय्य पाया जाता है, वह वास्तववादी या रियलिस्टिक साहित्य नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि वह यथार्थ नहीं है, बल्कि एक चरम असत्य है।

जिस साहित्य में प्रचुर कामुकता (eroticism) के सिवा और कुछ नहीं, उस साहित्य को हम स्वस्थ मन की रचना नहीं कह सकते। उच्च कोटि के साहित्य में प्रेम की कहानियाँ पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं ; किन्तु उसमें प्रेम के सिवा और भी अनेक बातें होती हैं। और यह प्रेम भी नैतिक उन्माद (moral instanity) का परिचायक नहीं होता। उस प्रेम में सबलता होती है। ब्राउनिंग की कविता में नीति और धर्म का उपदेश नहीं। 'A Blot in the Sentcheon' नामक नाट्य कविता में प्रणयी हेनरी निशीथ में प्रणयिनी के शयनकक्ष में चुपके से प्रवेश करता है। टाल्सटाय के 'दि कोज़क्स' नामक उपन्यास में लुकाश्का अपनी प्रेयसी मेयाना के कमरे में खिड़की से होकर प्रवेश करता है। हमारे देश के वैष्णव साहित्य में तो प्रेयस और प्रेयसी की प्रणय-लीला एवं अभिसार की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। प्रथम श्रेणी के उपन्यासों एवं काव्यों में इस प्रकार की रति-शृंगार की बातें पायी जाती हैं। फिर भी इस प्रेम को हम रुग्न एवं संयमविहीन यौन-आकांक्षा (morbid and uncontrollable sex-desire) नहीं कह सकते। जहाँ पुरुष या स्त्री के जीवन में यौन-आकांक्षा के सिवा और कोई रुचि नहीं रह जाती, जहाँ पुरुष का मन चुम्बन तथा आलिंगन के सिवा और कुछ सोच नहीं सकता, उस पुरुष के मन को हम स्वस्थ नहीं कह सकते। समझना चाहिए कि उसका पौरुष पंगु हो गया है और उसका क्लीव मन महत् की सृष्टि नहीं कर सकता। यौन-आकांक्षा

को चरितार्थ करने की उत्कट वासना को संयत रखकर ही मनुष्य अपने मन को साहित्य, शिल्प, दर्शन, विज्ञान आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में संलग्न करने में समर्थ होता है; और तभी सभ्यता एवं संस्कृति के नये-नये रूपों का विकास भी सम्भव होता है।

समाज क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता, समाज का किसमें मंगल है और किसमें अमंगल, इन बातों की ओर लक्ष्य रखकर जो साहित्य-रचना होगी, वह साहित्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। यह बात हमें सदा स्मरण रखना रखनी चाहिए कि साहित्यिक पादरी या धर्मोपदेशक नहीं है। नीति या धर्म का उपदेश देने के लिए वह साहित्य-रचना करने नहीं बैठता। पुण्य की जय एवं पाप का क्षय दिखाने के लिए वह उपन्यासों और कहानियों की रचना नहीं करता। वह जीवन की शुभ एवं अशुभ घटनाओं का इस रूप में वर्णन करता है, ताकि वे स्वयं अपनी शिक्षा आप देती चलें। लेखक अपनी ओर से चेष्टा करके कोई उपदेश देना नहीं चाहता। जैसा कि टालसटाय के सम्बन्ध में एक श्रेष्ठ समालोचक ने लिखा है: "He lets life teach its own lessons." टालसटाय के प्रसिद्ध उपन्यास 'अन्ना करेनिना' की नायिका अन्ना पर पुरुष के प्रेम में पड़कर निदारुण मानसिक अनुताप का अनुभव करती है। एक ओर उसका पुत्र और दूसरी ओर उसका प्रेमिक, इन दोनों के आकर्षण में पड़कर वह दुःसह वेदना भोग करती है। इन दोनों में से किसी का भी परित्याग करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। इसलिए वह आत्म-हत्या करके मानसिक वेदना से परित्राण पाती है। रोमाँ रोलाँ का जाँ क्रिस्तफर व्यभिचार करके मन-ही-मन नरक-यंत्रणा भोग करता है; फिर भी वह पाप के सामने अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता। पाप-कर्म की कलंक-कालिमा एवं दुःसह ग्लानि को सहन करते हुए भी वह जीवन की उद्दाम गति को खोता नहीं। बार-बार पराजित होकर भी वह अपने जीवन का पथ प्रशस्त करता हुआ चलता है और सहस्र विघ्न-बाधाओं के बीच भी उसका चिर-यौवन कभी म्लान नहीं होता। इब्सन की नोरा दाम्पत्य-जीवन के राहु-ग्रास से अपने को मुक्त करके उन्मुक्त गगन में विहंगम की तरह विचरण करना चाहती है।

उसके जीवन के परिपूर्ण विकास के लिए, आत्म-प्रकाश के असीम आनन्द के लिए, यह आवश्यक हो गया है कि उसे गृह-परिवार के कारागार-बन्धन से मुक्त कर दिया जाय। इसलिए कलाकार इब्सन समाज के कल्याण-अकल्याण की बात न सोचकर नोरा को परिवार के—पति और पुत्र के—स्नेह-बन्धन से स्वच्छन्द कर देता है। टाल्सटाय, रोमाँ रोलाँ और इब्सन सुनीति-प्रचार अथवा अश्लीलता को लेकर माथापच्ची नहीं करते। उनके साहित्य का मूल विषय होता है आनन्द—वह आनन्द, जो जीवन को सरिता की तरह गति प्रदान करता है और उत्थान-पतन के बीच भी अविचलित भाव से अग्रसर होने के लिए अनुप्राणित एवं उत्प्रेरित करता है। यह आनन्द जीवन को संकीर्ण परिधि के अन्दर आबद्ध करके नहीं रखता। उसे मुक्त और उदार बना देता है। इस आनन्द पर चिरन्तन की छाप अंकित रहती है। इस सौन्दर्य में चिरकाल तक मनुष्य के मन को मुग्ध करने की क्षमता होती है। यह सौन्दर्य चिर-पुरातन होकर भी चिर-नूतन बना रहता है। देश एवं काल से ऊर्ध्व होने के कारण काल का सर्वध्वंसी हाथ इसे स्पर्श नहीं कर सकता। कलाकार के लिए यह आनन्द ही सर्वोपरि होता है। इस आनन्द को वह नीति, धर्म एवं कल्याण की वेदी पर बलिदान करना नहीं चाहता। जीवन में आनन्द चाहिए—स्वस्थ एवं सबल आनन्द, रुग्न आनन्द नहीं। यदि जीवन में आनन्द ही नहीं रहा, तो फिर नीति, धर्म एवं समाज-कल्याण का मूल्य ही क्या हो सकता है? इसलिए कलाकार का सबसे बड़ा धर्म होता है जीवन में आनन्द-परिवेशन करना। इस आनन्द का परिवेशन करते समय वह केवल इतना ही सोचता है कि यह आनन्द जीवन को प्राण एवं गान, गति एवं चांचल्य, स्वप्न एवं शौर्य प्रदान करनेवाला होना चाहिए। समाज की अधर्म, पाप और दुर्नीति से रक्षा करने के लिए वह साहित्य की रचना नहीं करता। प्रथम श्रेणी के साहित्यिकों की साहित्य-रचना से जो इस प्रकार की आशा करते हैं, वे साहित्य एवं कला के सम्बन्ध में अपनी अबोध धारणा का ही परिचय देते हैं।

कला एवं शिल्प के उपादान

मनुष्यमात्र की इच्छा जीवन में सुख प्राप्त करने की होती है । इस सुख की अभिलाषा में मनुष्य आजीवन पागल बना रहता है ; किन्तु वास्तव जगत की कठोरताओं के साथ जब उसका जीवन-संघर्ष आरम्भ होता है, उस समय वह देखता है कि उसके जीवन की कितनी ही कामनाएँ, कितनी ही उमंगें, मन की कितनी ही साधें अपूर्ण ही रह जाती हैं । वास्तव में जीवन के घात-प्रतिघातों को सहन करते-करते उसका मन क्षत-विक्षत हो उठता है ; आशा एवं निराशाओं के बीच उसका चित्त दोलायमान होने लगता है । इस प्रकार की विफलताओं एवं निराशाओं के बीच जब मनुष्य का मन अधीर हो उठता है, तब वह अपनी मनोव्यथा को भूलने के लिए कल्पना का सहारा लेता है । इस कल्पना के सहारे वह अपने लिए रंगीन स्वर्ग की रचना करता है , और उसमें आश्रय ग्रहण करके अपनी विफल वासनाओं को चरितार्थ करने में उसे संतोष एवं सांत्वना प्राप्त होती है । जो दरिद्र है, वह भी कभी-कभी किसी राजकुमारी का पाणिग्रहण करके धनाढ्य बनने का स्वप्न देखता है । एक नव-युवक के मन में न मालूम कितनी आकांक्षाएँ और अरमान उठते हैं और उसकी कल्पना को आच्छन्न किये रहते हैं । एक रूपसी किशोरी की कल्पना प्रेम का आश्रय ग्रहण करके स्वप्न-लोक में न मालूम कितने नंदन-काननों की रचना करती है । किन्तु, इस प्रकार के स्वप्न देखनेवालों की कल्पना का प्रकाश हमें जिस रूप में दीख पड़ता है, उसमें उनके व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा एवं हर्ष-विषाद का ही सुर हमें सुन पड़ता है । जीवन के अंतर-तम की सूक्ष्म अनुभूति का रसास्वादन हमें उसमें नहीं मिलता । यही कारण है कि साधारण मनुष्यों का इस प्रकार स्वप्न देखना, उनका यह कल्पना-विलास शिल्प एवं कला का उपादान नहीं हो सकता । इसके विपरीत जो प्रतिभाशाली कवि एवं शिल्पी होते हैं, उनके कल्पना-विलास में, उनके दिवा-स्वप्न में साहित्य एवं शिल्प का अपूर्व एवं अनवद्य सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठता है । शिल्पी अपने मन के स्वप्न को साहित्य, संगीत, शिल्प एवं भास्कर्य के द्वारा एक ऐसा चिर-सुन्दर, अम्लान रूप प्रदान करता है कि उसमें केवल उसके व्यक्तिगत जीवन

की झाँकी ही देखने को नहीं मिलती बल्कि उसकी कविताओं में जो सुर झंकृत होता है, उसके नाटक और उपन्यासों में कल्पना का जो आत्म-प्रकाश होता है, उसके चित्र एवं भास्कर्य में सुकुमार रेखाओं के बीच, जो भाव जीवन्त हो उठते हैं, उनमें मनुष्यमात्र के लिए आनन्द, परितोष एवं सांत्वना के उपादान होते हैं। कलाकार एवं शिल्पी अपनी कृतिओं में नव-नव रूप की कल्पना करके आनन्द प्राप्त करता है। इस आनन्द की कल्पना में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की विफलताजनित ग्लानि को कुछ क्षणों के लिए भुला देता है और आर्ट के राज्य में अपने को जिस रूप में चित्रित एवं उद्भासित करता है, उसमें मनुष्यत्व की एक नूतन महिमा एवं उसकी गौरव-गरिमा ज्वलंत हो उठती है। जीवन में निराशाओं एवं विफलताओं के घात-प्रतिघात कलाकार एवं शिल्पी को भी सहन करने पड़ते हैं। कीटिस, शेली, टॉलस्टाय, रवींद्रनाथ और शरत्चन्द्र-जैसे कवि और कलाकारों ने भी अपने जीवन में वेदना के आँसू विसर्जन किये हैं, दुःख एवं मानसिक पीड़ा का अनुभव किया है। दुःख एवं नैराश्य के तुषारपात से उनके जीवन के भी कितने ही आशा-कुसुम असमय में ही मुरझा गये हैं; किंतु विफलताओं एवं निरा-शाओं के सामने उन्होंने कभी पराभव स्वीकार नहीं किया। समस्त वेदनाओं के बीच भी उनके प्राणों की तेजस्विता कभी म्लान होने नहीं पायी। उनके चिरजयी प्राण जीवन के श्मशान में भी प्रभात विहंग की तरह नूतन आशा के गान गाते रहे और अपने अनुपम सौन्दर्य एवं माधुर्य से देश-विदेश के सहृदय जनों के मर्म को स्पर्श करते रहे। दुःख के आघातों ने उनकी आशा-आकांक्षाओं को विचूर्ण कर दिया सही, किन्तु उनकी अपराजेय आत्मा ने आशा-आकांक्षाओं के भग्न-स्तूप में भी नूतन जीवन के उपादान ढूँढ निकाले। इस नूतन जीवन में हमें उनके विजयी प्राणों की एक अपार्थिव महिमा दीख पड़ी। उसमें जीवन का एक विचित्र सुर, एक विचित्र सौन्दर्य फूट पड़ा। दुःख-जर्जरित जीवन में जब व्यर्थता का अन्धकार घनीभूत होने लगा था, उनके दुर्जय प्राणों ने उस अन्धकार को भेद कर साहित्य, संगीत एवं कला के जिन सौन्दर्य-कुसुमों को प्रस्फुटित किया, उनका अम्लान सौरभ आज भी उसी प्रकार चिर-नूतन एवं चिर-प्रसन्न बना हुआ है।

साधारण मनुष्य विफलता एवं व्यर्थता के क्षणिक आघात से ही विचलित हो उठता है। व्यर्थता की वेदना उसके उद्यम को उसकी प्राणशक्ति को सम्पूर्ण विनष्ट कर देती है। उसका क्षणभंगुर मन अल्प आघात से ही धराशायी हो जाता है। अपने जीवन की व्यर्थता एवं विफलता को सोच-सोचकर वह विकल हो उठता है और अपने अन्तर में अहर्निश शून्यता का, एक प्रकार के हाहाकार का अनुभव करता है। अपने व्यथातुर अंतर को सांत्वना देने के लिए वह कल्पना की रंगीन जाली बुनता है अवश्य, किन्तु उसकी यह कल्पना उसके व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्र परिधि तक ही सीमाबद्ध होती है। इसके विपरीत कवि एवं शिल्पी का व्यथातुर मन अपनी कल्पना की परिधि को विस्तृत करके विशाल जगत् के साथ अपना आत्मीय सम्बन्ध जोड़ता है। उसकी कल्पना अखिल विश्व के सुख-दुःख, आशा-निराशा में परिव्याप्त हो जाती है। उसका प्राण-पक्षी उन्मुक्त गगन में विचरण करने लगता है, जहाँ उसकी गति अबाध होती है। कल्पना के उज्ज्वल आलोक में उसका विरागी मन विश्व-प्रकृति के चित्र-विचित्र लीलामय सौन्दर्य में पर्यटन करते हुए अपने अन्तर की शून्य मरुभूमि को नन्दन-कानन में परिणत कर देता है। उसके व्यक्तित्व की परिधि इतनी व्यापक हो जाती है कि वह वन के लता-पुष्पों में, नदी के कलरव में, आकाश के ग्रह-नक्षत्रों में, पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-पुलकित यामिनी में, ऊषा के स्निग्ध प्रकाश में, प्रभात-सूर्य की गरिमा में अपने जीवन के लिए एक नूतन सन्देश, एक नूतन वाणी, एक नूतन प्रेरणा का आह्वान सुनने लगता है, उसकी दृष्टि में विश्व-प्रकृति का कोई भी अंश, कोई भी प्राणी तुच्छ प्रतीत नहीं होता। जहाँ भी उसकी दृष्टि पड़ती है, वहीं उसके लिए सौन्दर्य का शतदल प्रस्फुटित हो उठता है। राजप्रासाद से लेकर क्षुद्र ग्राम-कुटीर और अट्टालिका से लेकर फूस की मड़ैया तक के प्रवेशद्वार उसके लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। यहाँ के समस्त नर-नारियों के साथ आत्मीयता के बंधन में वह आबद्ध हो जाता है। उसकी उदार दृष्टि किसी एक स्थल पर निबद्ध होकर नहीं रहती। उसकी सहृदयता, प्रेम की विशालता अपने विशाल बाहुपाश में सबको आबद्ध करने के लिए उत्कंठित रहती है। उसकी प्रतिभा किसी भी संकीर्ण सीमा के अन्दर अपने को सीमित करके नहीं रख सकती, अपनी अनुभूति की गम्भीरता एवं

व्यापकता के कारण वह सर्वजाति, सर्व-सम्प्रदाय, सर्वदेश एवं सर्वकाल का प्रतिनिधि होता है, उसकी प्रतिभा का प्रकाश एक ओर जहाँ कल्पना-विटप के उच्च-उत्तुंग शिखर को आलोकित करता है, वहाँ दूसरी ओर वास्तव जगत् की मिट्टी के अणु-परमाणु के साथ भी उसका सम्पर्क बना रहता है। उसमें पारिजात-कुसुम के सौरभ के साथ-साथ मिट्टी की भी गन्ध रहती है। सौन्दर्य, माधुर्य एवं शौर्य के संधान में उसकी प्रतिभा केवल कल्पना की ऊँची उड़ान ही नहीं लेती, बल्कि जो अति साधारण एवं अति परिचित हैं, उनमें भी वह सौन्दर्य एवं माधुर्य का आविष्कार कर लेती है। प्रकृति के सौन्दर्य एवं माधुर्य का उपभोग करने के लिए उसकी दृष्टि केवल शिमला, मंसूरी, दार्जिलिंग, वाल्टेयर, स्वीट्जरलैण्ड और भू-स्वर्ग काश्मीर तक ही परिमित नहीं रहती। अपने देश, अपने प्रान्त और अपने पड़ोस के गिरि-नदी-वन-प्रांतर, बाग-बगीचा, खेत-खलिहान में जो सौन्दर्य छिपा हुआ पड़ा है, उसे भी वह ढूँढ़ निकालती है। उसकी नायक-नायिकाओं की सृष्टि केवल पुराणों और प्राचीन इतिहासों, राजप्रासादों और ऐश्वर्य-मंदिरों में ही नहीं होती, बल्कि अपने निकटतम के मनुष्यों में मनुष्यत्व की जो महिमा, चरित्र की जो गरिमा, प्रेम का जो पवित्रोज्ज्वल प्रकाश, वीर्य एवं शौर्य की जो दीप्ति अंतर्हित है, उनसे ही वह अपने चरितनायकों की सृष्टि करता है। और, वे जिस प्रकार जीवन्त होते हैं, उसी प्रकार मनोरम भी, उनमें सौन्दर्य एवं माधुर्य की एक नूतन छटा हमें देखने को मिलती है। जो सौन्दर्य अब तक हमारी दृष्टि में उपेक्षित था, वह प्रतिभा के जादू-स्पर्श से प्रोद्भासित हो उठता है। जो अति साधारण एवं अति परिचित होने के कारण अब तक हमारी दृष्टि में उपेक्षित एवं अनादृत हो रहे थे, उनके पादपद्मों में वह साहित्य एवं शिल्प का आश्रय ग्रहण करके अपनी आन्तरिक श्रद्धा एवं प्रीति का अर्घ्य निवेदन करता है।

कवि एवं शिल्पी के सम्बन्ध में हमारे मन में कुछ इस प्रकार की धारणा बद्धमूल-सी हो गयी है कि वे वास्तव जगत् की कदर्यताओं एवं कठोरताओं के संस्पर्श से अपने को मुक्त एवं पृथक् रखते हैं। दुःख-दारिद्र्य की नग्न मूर्त्ति को यथार्थ भाव से चित्रित करके उसमें प्राणदान करने में उनका कल्पना-विलासी मन सिहर उठता है।

घोर अन्धकार रात्रि में कोई सुन्दरी तरुणी विद्युत् के झिलमिल प्रकाश में अभिसार के लिए प्रस्थान कर रही है अथवा द्वार-देहरी पर लीला कमल हाथ में लेकर विरहिणी नायिका अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में नील मेघ की ओर सजल नयनों से देख रही है। अजन्ता के चित्रों पर ध्यान देते ही हमारे मन पर उनकी अनुपम साज-सज्जा, उनकी सुकुमार कला अंकित हो जाती है ; किन्तु इन चित्रों के विलास—विभ्रम के बीच भी दारिद्र्य की एक झलक रही है। भिक्षुक के एक चित्र में बोधिसत्व के निकट एक वृद्ध भिक्षुक भिक्षा ग्रहण कर रहा है ; उसके मुख की भाव-भंगी करुणा का उद्रेक किये बिना नहीं रहती।

टॉल्सटाय ने लिखा है कि 'कला' सर्वसाधारण की वस्तु होगी। कला के द्वारा जन-साधारण का जीवन एवं उसकी आकांक्षा व्यक्त होगी; अर्थात् 'कला' जन साधारण के लिए ही होगी। दरिद्र के कुटीर में भी शिल्प एवं कला का मंगल-प्रदीप प्रज्ज्वलित होगा। 'कला' केवल धनी-विलासी लोगों की संपत्ति बनकर नहीं रहेगी।

इंगलैण्ड की जनता में कला का प्रचार करने के लिए शिल्प-समालोचक रस्किन ने पाश्चात्य जगत् में एक नूतन चिंता-धारा प्रवाहित की थी। उनका विचार था कि इंगलैण्ड के घर-घर में, यहाँ तक कि दरिद्र की कुटी में भी, आर्ट की मंगल मूर्ति स्थापित हो, इसके लिए प्रचलित सामाजिक एवं आर्थिक रीति-नीतियों में संस्कार करना होगा ; इसके लिए उस समय के कलाकारों ने उनकी तीव्र समालोचना भी की थी। सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्य के वर्तमान रहते हुए आर्ट का प्रचार नहीं हो सकता, ऐसा उनका विश्वास था। अपने इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने कला की उपासना के बदले अर्थनीति एवं समाजनीति पर निबंध लिखे थे। उनका मत था:—
"Art to be worth anything must be for the people not for a few pampered aristocrats and ignorant mill-owners.

अर्थात्, कला का यदि कोई मूल्य हो सकता है तो वह यही कि वह जन-साधारण के लिए हो। वह केवल मुट्ठीभर विलासी धनिकों और अज्ञ मिल-मालिकों के लिए नहीं है।

अत्याचार-पीड़ित, दुखित, लांछित एवं बुभुक्षु जनों को लेकर कितने ही साहित्यिकों एवं शिल्पियों ने चित्रांकन किये हैं। स्पेन के सुप्रसिद्ध चित्रकार गइया ने मनुष्य के मनोविकारों—काम, क्रोध, प्रतिहिंसा एवं बर्बरता—का ज्वलन्त रूप में चित्रांकन किया है। उस समय राष्ट्र एवं धर्म के नाम पर जो अन्याय एवं अत्याचार होते थे, उनकी कहानी उसके चित्रों में अंकित हुई है। राजा-महाराजों के चित्रों में उनके मणि-माणिक्य के चाक-चिक्य में उनकी धनलोलुपता एवं क्रूरता का, उनके राजकीय ऐश्वर्य एवं विलास-लीलाओं में उनके प्राणहीन अंतरात्मा का प्रकाश हम पाते हैं। उस समय के मुक्त कामियों की वाणी उनके चित्रों में प्रकाशित हुई है। धर्माचार्यों के अत्याचार एवं उनकी पाखंडलीलाओं की कहानी को अपने चित्रों द्वारा प्रकाश में लाने के कारण उन्हें लांछित एवं स्वदेश-निर्वासित भी होना पड़ा था।

फरासीसी चित्रकार दमिए (१८०८-१८७९) ने दरिद्रों की करुण कहानी अपने चित्रों में अंकित की है। वह स्वयं भी दरिद्र था। पेरिस के राजमार्ग ही उसके चित्रांकन के विषय थे। अपने एक चित्र "soup" अर्थात् शोरवा में उसने एक दरिद्र मजदूर परिवार का चित्र चित्रित किया है। उसके चेहरे पर पड़ी हुई झुर्रियाँ और टेबुल के ऊपर झुके हुए उसके शरीर से क्षुधा-की तीव्रता साफ-साफ प्रकट हो रही है। उसकी स्त्री की छाती खुली हुई है। एक बच्चा स्तनपान कर रहा है। चित्र को ध्यानपूर्वक देखने से क्षुधा एवं दारिद्र्य की नग्न मूर्त्ति आँखों के सामने सजीव हो उठती है।

साहित्य के क्षेत्र में विक्टर ह्यूगो की अमर रचना 'लामिजरेबुल' और डिकेंस के उपन्यास 'आलिवर ट्विस्ट' को बहुत लोगों ने पढ़ा होगा। दमिए के समान इन दोनों साहित्य-शिल्पियों ने भी दरिद्रों का जो चित्र अंकित किया है, वह हमारे मन में करुणा का उद्रेक करता है। इस समय भी यूरोप में ऐसे अनेक साहित्यिक एवं शिल्पी हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों में दरिद्र श्रमजीवियों एवं कृषकों का सजीव चित्र चित्रित करके अपनी लेखनी एवं तूलिका को धन्य किया है और कर रहे हैं। एक ओर बड़े-बड़े नगरों में विद्युत् के आलोक से उद्भासित राज-मार्गों पर प्रचुर ऐश्वर्य एवं विलासिता की लास्य लीला और दूसरी ओर फुटपाथ पर धूल में पड़े हुए और जाड़े

की रात में शीत से थर-थर काँपते हुए सहायहीन नर-नारी और बच्चे आवर्जना, अन्धकार एवं दारिद्र्य के बीच किसी प्रकार दुःसह जीवन के दिन काट रहे हैं। साहित्य एवं शिल्प के उपादान उन्हें दोनों दृश्यों में समान रूप से प्राप्त होते हैं।

कवयः किं न पश्यन्ति ?

कवि क्रान्तदर्शी हुआ करते हैं। कार्लाइल ने कवि और भविष्यवक्ता को एक श्रेणी में रखा है। संस्कृत की एक उक्ति है, 'कवयः किं न पश्यन्ति' अर्थात् कवि क्या नहीं देखते, वे सब कुछ देख सकते हैं। उनकी दृष्टि सीमित विश्व को अतिक्रान्त कर के असीम को प्रत्यक्ष कर सकती है और उसके रहस्यों का उसी प्रकार उद्घाटन कर सकती है, जिस प्रकार दृश्य-जगत् के रहस्यों का। कवि केवल चर्मचक्षु से ही नहीं देखता, मर्मचक्षु से भी देखता है। कल्पना का उसका तृतीय नेत्र जब खुल पड़ता है, उस समय सृष्टि के यावतीय पदार्थ उसके सामने उद्भासित हो उठते हैं। उनमें एक अपूर्व सौन्दर्य, अभिनव रूप-माधुर्य लहराने लगता है। उसकी स्वप्नमाधुरी के स्पर्श से साधारण से साधारण वस्तु भी अपूर्व एवं अनुपमेय बन जाती है। कवि के काव्य को पढ़कर यदि हमारा कौतूहल-भाव ही उद्दीप्त होता, तो अवश्य ही उससे हमें उसी हद तक आनन्द लाभ होता, जिस हद तक हमें किसी खेल-तमाशे से होता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। काव्य के रसास्वादन से हमारे हृदय में जो आनन्द एवं सौन्दर्य-वृत्ति जागरित होती है, उसका स्थायी प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है। जो वस्तु पहले हमें सुन्दर प्रतीत होती थी, वह और भी सुन्दरतर प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार वह नूतन रूप में हमारे लिये उपभोग्य बन जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि जिस वस्तु या दृश्य-विशेष में हमें किसी प्रकार के सौन्दर्य का आभास नहीं मिलता था, अथवा जिसे हम असुन्दर या कुरूप समझ बैठे थे, उसे ही कवि की रस-दृष्टि की सहायता से हम सुन्दर और सुखी देखने लगते हैं। कवि की इस रसदृष्टि के सम्पर्क में आकर हमारे हृदय का रसप्रस्रवण जब उच्छ्वल हो

उठता है, उस समय हमारी दृष्टिभंगी संपूर्ण परिमार्जित हो जाती है और सब कुछ में एक नूतन शोभाश्री हमें परिलक्षित होने लगती है और उसकी रूप-माधुरी नव-नव रूप में हमारे मन-प्राण को आकर्षित एवं आप्यायित करने लगती है। जो सौन्दर्य अब तक हमारी दृष्टि से ओझल था, वह सौन्दर्य अब एक अपरूप-रूप लेकर हमारे सामने प्रकट होता है और उसकी अभिव्यक्ति हमारे रसबोध एवं आनन्दबोध को इतना सूक्ष्म एवं सुतीव्र बना देती है कि हम अपनी परिस्थिति को रसमय, आनन्दमय एवं मंगलमय बनाने के लिये उल्लसित हो उठते हैं। हृदय की यह आनन्दवृत्ति, प्राणों की यह रसोन्मादना हमें वह शक्ति प्रदान करती है, जिससे असुन्दर को सुन्दर, कुश्री को सुश्री एवं अश्रद्धेय को श्रद्धेय रूप में देखने की लालसा हमारे हृदय को उत्प्रेरित करने लगती है और तब हम सचमुच इस योग्य बन जाते हैं कि जो कुछ असुन्दर है एवं अशोभन है, उसके विरुद्ध स्वभाव से ही हमारी आत्मा विद्रोही बन जाय और जगत् एवं जीवन को नूतन रूप में गठित करने और नूतन ऐश्वर्य से मण्डित करने की हमारी आकांक्षा प्रबल हो उठे। युग-युग से सतकाव्यों द्वारा मनुष्य के मनोभाव में इसी प्रकार का रूपान्तर होता चला आया है। तभी तो कवि ब्राउनिंग के शब्दों में सौन्दर्य को ईश्वर प्रेरित आचार्य तथा कवित्व को इस मर्त्यलोक में दुर्लभ रत्न कहा गया है। मनुष्य के भाव-जगत् में इस प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर देनेवाला जहाँ एक कवि पैदा होता है; वह देश धन्य हो जाता है, वह जाति महिमान्वित हो जाती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवि केवल चर्मचक्षु से ही नहीं देखता, वह हृदय के नेत्र से भी देखता है। उसके दिल में जब दर्द का दरिया उमड़ पड़ता है, हृदय में जब वेदना का सागर तरंगायित होने लगता है, उस समय उसकी अन्तर्दृष्टि आप से आप उन्मीलित हो जाती है और वह समस्त विश्व में भेदभाव एवं वैषम्य से परे मनुष्य के आन्तरिक रूप को अपनी विशाल अनुभूति द्वारा प्रत्यक्ष करने लगता है। यह अनुभूति सब प्रकार के तर्क-वितर्क के जाल को विच्छिन्न कर के कवि के व्यक्तित्व को अनन्त एवं असीम में प्रसारित कर देती है। इस दृष्टि के लाभ करने पर कवि सुगभीर प्रेम एवं प्रीति के प्रभाव से मनुष्य के अन्तरतम में प्रवेश कर के उसकी प्रच्छन्न महिमा

को प्रत्यक्ष करता है। जाति एवं समाज के प्रति यह गंभीर प्रेम-स्फुरित दृष्टि ही उसे अनुभूति की गंभीरता, हृदय की विशालता एवं व्यक्तित्व की व्यापकता प्रदान करती है। वह प्रत्येक मनुष्य के साथ एकात्मबोध का अनुभव करता है। मनुष्य की नूतन महिमा उसके सामने शतदल कमल की तरह प्रस्फुटित होने लगती है। अपने जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य एवं प्रसिद्धि के गर्व में अबतक हम जिन लोगों को तुच्छ, हीन एवं अवज्ञा के योग्य समझकर उनकी उपेक्षा करते आ रहे थे, उनका सत्य रूप वह हमारे सामने खोलकर रख देता है और हमें बताता है कि कोई भी मनुष्य तुच्छ नहीं है, हीन नहीं है, घृण्य नहीं है। उसके अन्तर में अमृत रस का जो स्रोत प्रवाहित हो रहा है, उसमें मन-प्राण से अवगाहन करके धन्य होओ, पुण्य होओ।

इस दृष्टि से संसार के नरनारी को देखने पर ही कवि जगत गुरु का आसन ग्रहण करता है और वह विश्ववरेण्य बन जाता है। प्रेम की यह दृष्टि सृष्टि का प्राण है, जीवन की परमोज्ज्वल दीप-शिखा है और समस्त ज्ञान का मूल तत्व है। इसी चरम ज्ञान की परिभाषा गीता में 'सर्व भूतस्यमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि" के रूप में की गयी है। इसी ज्ञान को 'ज्ञानं अभेद-दर्शनं' के रूप में कहा गया है। अखिल मानवता के साथ एकात्मबोध की यह वाणी हम उपनिषदों में, वेदांत-ग्रन्थों में सर्वत्र पाते हैं; यह दृष्टि कवि को व्यष्टि में समष्टि देखने की, ससीम में असीम देखने की योग्यता प्रदान करती है। और तब वह साधारण स्त्री-पुरुषों में ही अखिल मानवता का परम सत्य स्वरूप देखने लग जाता है। He sees eternity in men and women, he does not see men and women as dreams and dots. ससीम और असीम के इस महामिलन को ही युग-युग में कवियों एवं महामनीषियों ने छन्दोबद्ध वाणी का रूप दिया है और इसके द्वारा उस अनन्त लीलामय की लीला-माधुरी का रसिक जनों को रसास्वादन कराया है। इसी दृष्टि को लेकर जड़वादी अमेरिका में उत्पन्न होने वाले महाप्राण एमर्सन ने आत्मा के अमरत्व की वाणी उद्घोषित की थी और मनुष्यमात्र के प्रति अपरिसीम प्रेम धारण करनेवाले, अपने हृदय में दर्द की

दुनिया बसानेवाले अमर कवि ह्विटमैन ने दीन दरीद्र एवं अज्ञ मनुष्यों की वेदना से अपने दिल को मोम की तरह गलाकर कहा था—

"I do not ask the wounded person how he feels; I myself become the wounded person." अर्थात "पीड़ित मनुष्य से मैं उसकी पीड़ा के विषय में पूछता नहीं, बल्कि मैं स्वयं उसके अन्तर में प्रविष्ट होकर उसके साथ एकात्म हो जाता हूँ।" अथवा उर्दू के कवि अमीर के शब्दों में "खंजर चले किसी पै, तड़पते हैं हम अमीर। सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।" कवि की यह प्रेम-दृष्टि ही उसकी सहजात अन्तर्दृष्टि है। इसी अन्तर्दृष्टि को लेकर वह जीवन एवं जगत् के सम्बन्ध में विचार करता है और मनुष्यमात्र के साथ अपना आत्मीय संबंध स्थापित करता है। इस दृष्टि के लाभ करने पर समस्त कलाओं का गोपन द्वारा आप से आप उन्मुक्त हो जाता है और अन्तर का स्वतःस्फूर्त अमृत-निर्झर उच्छ्वलित होकर प्रवाहित होने लगता है। इस दृष्टि को पा लेने पर साधारण-से-साधारण मनुष्यों की कथावार्ता में भी कानों में गीत छन्द के रूप में बज उठता है और उस संगीत के अनुपम झंकार से चित्त आनन्दलोक में निमग्न हो जाता है। केवल प्रकृति का लीलामय वैचित्र्य ही नहीं, बल्कि असंख्य मनुष्यों के बीच विविध कार्य-प्रचेष्टाओं में रत मनुष्य का नित नूतन रूप उसके मन के तारों को नये-नये सुरों में झंकृत कर देता है और वह अपने देश के नर-नारियों के मध्य विचित्र एवं विभिन्न भाव से उस रसस्वरूप के लीला-विलास को प्रत्यक्ष करने लगता है। मनुष्य की सहज, सरल महिमा उसके सामने उद्दीप्त हो उठती है और उसके प्राण सहस्र-सहस्र मनुष्यों को प्रेमिक बन्धु एवं संगी बनाने के लिये, उसके साथ निविड़ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आकुल हो उठते हैं। Give me comrade and lovers by the thousand, let me see new ones every day—let me hold new ones by the hand every day.

इस कोटि के कवि का काव्य हमारे लिये सामयिक उपभोग की वस्तु न होकर शाश्वत कल्याण एवं आनन्द की वस्तु बन जाता है। उसके साथ हमारे

जीवन का अन्तरंग संयोग स्थापित हो जाता है। वह हमारी दृष्टिभंगी, मनोवृत्ति एवं विचार-सरणि को परिवर्तित कर देता है। कवि अपनी कला द्वारा सौन्दर्य के जिस आदर्श की सृष्टि करता है, उस आदर्श का अनुसरण कर के हम अपने जीवन को सुन्दर एवं महत् बना सकते हैं और सौंदर्य की लीला को अपने जीवन में प्रतिफलित कर सकते हैं। समवेदना से आर्द्र हृदय एवं सहानुभूति से गीली आँखें लेकर हम अपने पड़ोस के मनुष्यों को देखना और उनके सम्बन्ध में विचार करना सीखते हैं। अब तक जो स्त्री-पुरुष हमारे लिये तुच्छ, हेय अथवा उपेक्षणीय थे, अथवा जिनके प्रति अब तक हमने उदासीनता का भाव धारण कर रखा था, वे ही अब हमारे लिये श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं, उन्हें अपनाने के लिये, उनसे प्रेम करने के लिये, उनके सुखःदुख का साथी बनाने के लिये हम ललक उठते हैं। कोरे ज्ञान के बल पर, प्रखर पाण्डित्य के प्रकाश में अब तक जो हमारी दृष्टि में धूमिल बना हुआ था, वही अब अनुभूति की उज्ज्वल आभा में सम्पूर्ण हो उठा। हृदय में वेदना की टीस भर कर मर्म की दृष्टि से जब दूसरों के दुःख को जानने की चेष्टा की, तो दूसरों के सुखःदुख उतने ही वास्तविक एवं जीवंत प्रतीत हुए, जितने अपने। Wisdom comes only to the man of sympathy and compassion to whom the joys and sorrows of other men are well-nigh as real and vivid as his own. ठीक है, दूर ज्ञान के उच्चशिखर पर आरूढ़ होने से मनुष्य को देखा जा सकता है। उसके हृदय में प्रवेश करने के लिये तो दिल में दर्द और आँखों में पानी होना चाहिये।

देश-काल की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर मानव जीवन का जो चिर सत्य है, उस सत्य की उपलब्धि करते हुए जब कवि उसके साथ शिव एवं सुन्दर का समन्वय करता है और उसे छन्दोबद्ध वाणी का रूप देता है, उस समय वह अवश्य ही महामानवता का प्रतिनिधि कवि बनकर सब देश और सब काल के लिये अमर बन जाता है। उसकी कविता देश-विशेष या जाति विशेष की संपत्ति न हो कर निखिल विश्वमानव की संपत्ति बन जाती है। उसकी वाणी मनुष्य के जीवन में सत्य को ध्रुवतारा बनाकर कर्त्तव्य-पथ पर

अग्रसर होने तथा सब प्रकार की भौगोलिक सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण करके प्रेम की व्यापक दृष्टि से देश और दुनिया को देखने की दिव्य दृष्टि प्रदान करती है। कवि की इस वाणी का अनुसरण करके ही नूतन जगत् की सृष्टि संभव हो सकती है—वह जगत्—जहाँ ज्ञानमूलक प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च आदर्श होगा, जहाँ अपार प्रेम द्वारा मनुष्य मनुष्य का आत्मीय बन जायगा और जहाँ मानव प्रेम द्वारा अनुप्राणित जीवन मनुष्य के व्यक्तित्व के इस्पात की तरह नमनीय होने पर भी अभंगनीय और कंचन तथा कमल की तरह बाह्य सुन्दर होने पर भी भीतर से कठिन बनाये रहेगा, जिससे सब प्रकार के अन्याय, अनीति एवं औद्धत्य के विरुद्ध उस के मुख से विद्रोह की अग्निवाणी उद्‌घोषित हो कर अपने ज्वाल-जाल में सब को भस्मीभूत कर डाले।

आधुनिक कविता

गत यूरोपीय महायुद्ध के फलस्वरूप यूरोप और अमेरिका के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में उथल-पुथल हुई, उसका प्रभाव वहाँ की संस्कृति एवं साहित्य पर भी पड़े बिना नहीं रहा। यंत्र-विज्ञान की असीम उन्नति, मनः समीक्षा शास्त्र की नवीनतम परिणति, युद्ध-काल में रूस का महाविप्लव एवं समाजवाद का व्यापक प्रसार, गणतंत्र की असफलता और उसके परिणाम स्वरूप फासिष्ट मतवाद का अभ्युत्थान—इन सब कारणों से एक ओर जहाँ लोगों के परम्परागत विश्वास एवं आस्तिक्य-बुद्धि की भित्ति शिथिल होने लगी, वहाँ दूसरी ओर उनके राष्ट्र एवं समाज-जीवन में भी सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगा। जीवन के आदर्श में, संस्कृति की धारा में आलोड़न-विलोड़न होने लगे। नाना प्रकार के मतवाद, परीक्षा-समीक्षा एवं संगत-असंगत आन्दोलन के बीच लोग अति व्यस्त हो उठे। इस युग में जो साहित्य एवं शिल्प रचित हुआ, उसमें न तो किसी सुनिश्चित जीवन-दर्शन को रूप देने की चेष्टा की गयी और न किसी नूतन रसादर्श का आभास दिया गया। और ऐसा होना संभव भी नहीं था। क्योंकि उस जीवन का प्रत्येक आधार

शिथिल हो रहा था, विचारधारा में नित नूतन परिवर्तन हो रहे थे और भविष्य के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिल रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि इस संक्रमण-काल में भी कतिपय प्रतिभाशाली कलाकारों की प्रतिभा का विकास देखा गया किन्तु इसके साथ ही समाजवाद, अवचेतनवाद, प्रज्ञावाद, प्रतीकवाद आदि के नाम पर साहित्य एवं शिल्प के क्षेत्र में कुछ ऐसी उद्भट सृष्टि हुई, जो औसत शिक्षित पाठकों के लिए पहेली ही बनी रही। काव्य में एजरा पाउण्ड और कुमिङ्स्, गद्य में जेम्स जायस, शिल्प में क्रोमबर्ग आदि ने अर्धस्फुट भाषा में अस्फुट कलकाव्य एवं अवचेतन मन के विचित्र लीला-स्वप्न को रूप देने का जो प्रयत्न किया, वह अनेक क्षेत्रों में शब्दों की कलाबाजी या धाँधली के सिवा और कुछ नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानों इन सब लेखकों की रचनाओं के अधिकांश वाक्य शब्दप्रलाप मात्र हों। शब्दों के मकड़-जाल में अर्थ-गम्भीरता का कोई नाम ही नहीं। कला-कला के लिए—इस सिद्धान्त की तरह इनके मतानुसार शब्द-शब्द के लिए—चाहे उसका कोई अर्थ हो या नहीं। चूँकि इस कोटि के लेखक प्रज्ञावादी एवं अनेक शास्त्रों के पारदर्शी पण्डित थे, इसलिए इनकी कृतियों का व्यापक रूप में प्रतिवाद भी नहीं हो सका और इनके कुछ अनुयायी भी हो गये। इन सब श्रेणी के लेखकों की साहित्य-सृष्टि का प्रकाश आत्म-केन्द्रिकता में ही देखा गया और सिम्बलिष्ट (Symbolist) तथा इमेजिष्ट (Imagist) काव्य उसका बाह्य रूप हुआ। साहित्य की दूसरी धारा को समाज वैषम्य की चेतना एवं ऐतिहासिक बोध से प्रेरणा एवं पुष्टि मिली। वर्तमान क्षयिष्णु समाज-व्यवस्था के अवसान की कामना तथा न्याय एवं साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा की कल्पना ने इस साहित्य के लिए उपादान जुटाया। बोल्शेविक विप्लव की सफलता और मार्क्सवाद के प्रति आग्रह एवं समादर बुद्धि ने साहित्य की इस धारा के वेग को और प्रबलतर कर दिया, जिससे आज भी क्रम विकास के मार्ग पर वह गतिशील हो रही है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों धाराओं का दुरुपयोग न्यूनाधिक रूप में हुआ है, किन्तु प्रथम धारा के कुछ काव्य तो एक ऐसे स्तर पर पहुँच गये हैं कि किसी भी प्रकृतिस्थ व्यक्ति के लिए उसे हृदयङ्गम

करना एक कठिन व्यापार है। मनुष्य के मन की स्वस्थ एवं स्वाभाविक बुद्धि-वृत्तियों का व्यङ्ग्य-विद्रूप करना ही इनका उद्देश्य जान पड़ता है। दूसरी ओर आदर्शवाद या साम्यवाद के नाम पर इस प्रकार की बे सिर-पैर की रचनाएँ भी हुई हैं, जो स्थूलता के कारण किसी प्रकार भी काव्य की श्रेणी में परिगणित नहीं हो सकतीं।

आधुनिक कविता का संपर्क नैतिक द्वन्द्व से है। इस नैतिक द्वन्द्व का सम्पर्क मनुष्य के वाह्य जगत से है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रति मनुष्य के विक्षुब्ध मन एवं आत्मा का प्रकाश इस द्वन्द्व के रूप में होता है, इसीलिए आजकल की कविताओं में नाना प्रकार के सामाजिक एवं नैतिक जटिल प्रश्नों की सूक्ष्म आलोचना देखी जाती है। इस प्रकार के काव्य भी, जिनका उद्देश्य समाज का व्यङ्ग्य-विद्रूप करना, पाठकों का मन परिवर्तित करना अथवा हमें किसी ऐसे भाव से अनुप्राणित करना, जो काव्यगत विशुद्ध आनन्द से भी अधिक प्रयोजनीय प्रतीत हो, प्रकृत काव्य हो सकते हैं यदि कवि को भाषा पर अधिकार हो और वह अपने काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा कर सके। यहीं कवि की व्यक्तिगत क्षमता का परिचय मिलता है।

आधुनिक कविता का प्रधान विशेषत्व यह है कि वह मनुष्य की विचार-बुद्धि से अपील करता है, भाव-विलासी मन के प्रति उसका आवेदन नहीं होता। रुढ़ वास्तव को लेकर वह चलती है। आधुनिक कविता ने हमारे वर्तमान समाज की व्यर्थता का अनुभव किया है—वह समाज जो नैराश्य एवं अवसाद से ग्रस्त हो रहा है। आधुनिक कवि की दृष्टि में अन्धकार-रात्रि मखमल के समान कोमल और नरम न होकर रुक्ष, धूसर एवं वीभत्स होती है। जिस समय वह रात्रि का चित्रण करने लगता है उसकी दृष्टि में रात्रि की मधुरिमा अथवा ज्योत्स्ना-पुलकित यामिनी की शोभा नहीं आती। इस प्रकार के कवि के काव्य में जो आत्मकेन्द्रिकता, नैराश्यवाद, अवसाद और Neurosis जनित अद्भुत भाव पाये जाते हैं, उस के लिए इन कवियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। नैराश्य एवं व्यर्थता का गान गाते समय ये वर्तमान युग की ऐतहासिक धारा की ही प्रतिध्वनि करते हैं। नैराश्य एवं अवसाद से आहत होकर जीवन को व्यर्थ समझ लेना और

अपने को असहाय मानकर निरुपाय हो जाना अवश्य ही क्लैव्य एवं दैन्यभाव का द्योतक है और यह हमारे लिए वांछनीय भी नहीं हैं, किंतु इतिहास की अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए इस प्रकार के काव्य पर विचार करते समय ऐतिहासिक चेतना में जिनका विश्वास है, वे इसे सर्वथा निन्दनीय नहीं ठहरा सकते। जैसा कि इङ्गलैण्ड के एक आधुनिक कवि और समालोचक Stephen Spender ने लिखा है—It seems, then, that if Literature is suffering from neurosis, we cannot escape from it by ignoring it and by observing only the shell of our world and attacking our own faults as we find them in our friends—अर्थात साहित्य में यदि neurosis का प्रादुर्भाव हो रहा है, तो इसकी उपेक्षा करके हम इससे नहीं बच सकते। वर्तमान जगत के बाह्य रूप को देखकर और अपने दोषों को अपने मित्रों में पाकर उनकी निन्दा करने से हमारी रक्षा नहीं हो सकती।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यूरोप में आधुनिक काल में दो प्रकार के कवि देखे जाते हैं। प्रथम श्रेणी के कवि का आधार होता है प्राचीन युग का काव्य और कवि की प्राचीन स्मृतियाँ और दूसरी श्रेणी का आधार होता है समाज-चेतना और ऐतिहासिक बोध। T. S. Eliot, Ezra pound प्रथम श्रेणी के कवि हैं। इनमें भी इलियट की कविता में प्राचीन स्मृतियाँ विशेष रूप से पायी जाती हैं। इलियट ने व्यङ्गय एवं विद्रूपमय सुर में आधुनिक समाज की आलोचना की है। प्राचीन युग की कविता, कला, संगीत, चित्र, भास्कर्य आदि के प्रति इनकी श्रद्धा प्रगाढ़ है। इन सब वस्तुओं की क्षणभंगुरता के सम्बन्ध में ये अत्यन्त सचेतन हैं। इनकी कविता में भाव की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता है और ये अत्यन्त आत्मकेन्द्रिक हैं। अतीत की जो सब मूल्यवान वस्तुएँ हैं, उन्हें ये बचाकर रखना चाहते हैं। इस श्रेणी के कवि वर्त्तमान को सर्वथा नैराश्यपूर्ण एवं व्यर्थ समझते हैं। आधुनिक यंत्र सभ्यता ने व्यवसाय-वाणिज्य की प्राचीन धारा को विपर्य्यस्त कर दिया है। नीति, धर्म, यौन-विषय आदि के सम्बन्ध में जो प्राचीन धारणाएँ थीं, उनमें

आमूल परिवर्तन ला दिया है। धर्म नष्ट हो गया है, नीति पर कोई आस्था नहीं रह गयी है और प्राचीन शिक्षा-पद्धति भी अब शेष नहीं रही। इस प्रकार के सीमाहीन एवं नैराश्यपूर्ण अन्धकार के बीच दिक्भ्रष्ट होकर ये भविष्य के लिए मार्ग का सन्धान नहीं पाते। ध्वंसोन्मुख धनिक सभ्यता के क्षयिष्णु कलेवर की ओर देखकर इनके कण्ठ से केवल नैराश्य का शेष संगीत प्रतिध्वनित होता है। मनुष्य की मुक्ति नहीं, जीवन का परित्राण नहीं। मृत्यु ही जीवन का श्रेष्ठ एवं अन्तिम लक्ष्य है; इलियट की कविता में यही सुर प्रस्फुटित हुआ है।

We are the hollow men
We are the stuffed men

इलियट का Gerontion वृद्ध हो गया है। उसे कोई आशा-आकांक्षा नहीं रह गयी है। सब कार्य समाप्त हो चुके हैं। रह गये हैं केवल शुष्क मस्तिष्क के विचार– 'Thoughts of a dry brain in a dry season' प्राचीन सभ्यता एवं प्राचीन संस्कृति के जो सब निदर्शन थे सब ध्वंसोन्मुख हो रहे हैं, सब अवास्तव हैं। अत्याचारी, अर्थ-पिशाच मनुष्यों का सर्वत्र बोलवाला है। जीवन पंगु हो रहा है, उसकी गति का छन्द शिथिल हो रहा है, मनुष्य की दुर्गन्ध से वातावरण कलुषित है। ऐसी परिस्थिति में मुक्ति कहाँ ? मुक्ति पागल के प्रलाप के सिवा और कुछ नहीं है। इसलिए ध्वंस अनिवार्य है। मनुष्य को सहास्य वदन इस निष्ठुर अदृष्ट को वरण करना होगा। इलियट का उक्त वृद्ध जिरनशन विलाप करते हुए कहता है— 'My house is a decayed house' मेरा गृह ध्वंसोन्मुख है। अतीत की सभ्यता एवं संस्कृति 'A heap of broken images' भग्न मूर्तियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं रह गया है। इलियट की कविताओं में 'The waste land' कविता विशेष रूप में उल्लेखयोग्य है। सब मिलाकर यह एक सुन्दर कविता कही जा सकती है। इस कविता में वर्त्तमान जगत की दुख-शोक पूर्ण अवस्था का वर्णन हमें मिलता है। कवि ने जीवन के सम्बन्ध में सर्वथा नैराश्यपूर्ण दृष्टि से विचार किया है:—

What are the Roots that clutch

What branches grow,
Out of this stony rubbish ?
Son of man,
You can not say or guess,
For you know only,
A heap of broken images......

एजरा पाउण्ड की अनेक कविताओं में भी यही सुर प्रस्फुटित हुआ है। इनका भी विश्वास है कि सभ्यता घूर्णावर्त्त के समान और मनुष्य उसमें एक क्षुद्र बुद्बुद् के समान है। इन्होंने अपने Cantos में किसी परम्परा को ग्रहण नहीं किया है। कोई नायक नहीं, यहाँ तक कि देश-काल का विचार नहीं। इन में भी इलियट के समान नैराश्य वैराग्य, सर्व-जन-सम्मत कर्त्तव्य ज्ञान के विरुद्ध विद्रोह; आधुनिक समाज का सब कुछ खोखला और मिथ्या—किन्तु इस घोर अन्धकार से बचने का कोई उपाय नहीं। इलियट और एजरा पाउण्ड की अपेक्षा तरुण कवि अडेन Auden वर्त्तमान जगत के अर्थनैतिक वैषम्य और तज्जनित दुःख एवं वेदना से साथ गम्भीर रूप में परिचित हैं। इसलिए ये और भी सचेतन हैं। Auden ने लिखा है Poetry is not concerned with telling people what to do but with extending our knowledge of good and evil. अर्थात् कविता का काम लोगों को उपदेश देना नहीं है, उसका काम है क्या अच्छा है और क्या बुरा इस सम्बन्ध में और सचेतन कर देना।

योरोपीय काव्य की जिस दूसरी धारा का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह पहली धारा की अपेक्षा आधुनिक है। इसलिए उसे अति आधुनिक काव्य कह सकते हैं। इस श्रेणी के कवियों का विश्वास है कि कवि भी और मनुष्यों की तरह रक्त-मांस का बना हुआ मनुष्य है। जिस ऐतिहासिक धारा-प्रवाह के अन्दर वह जीवन-यापन कर रहा है, जिस सामाजिक परिस्थिति में वह रह रहा है, उससे वह बाहर नहीं जा सकता। (He can not stand completely outside the process of history in which he is involved and outside his own environ

ment) मुट्ठी भर धनिक विलासी लोगों के जीवन के फूल, चाँदनी और मलय-पवन की अपेक्षा नित्य जीवन के संगी धुयाँ स्थूल, मिट्टी आदि के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है। इसलिए इस युग का कवि जप, तप और भगवत भजन की महिमा का प्रचार धनिकों की उदारता एवं वदान्यता का गुण-गान और इहलोक की अपेक्षा परलोक के भावी सुख का प्रलोभन दिखला करके अपने कवि-धर्म को सार्थक नहीं समझता। अति आधुनिक कवि इस बात को महसूस करता है कि संसार में इस समय जो दो परस्पर विरोधी धाराएँ चल रही हैं, उन से वह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता; यानी उसे प्रतिक्रियाशील फासिज्म का पल्ला पकड़ना होगा या प्रगतिशील बनकर श्रमजीवी श्रेणी के साथ चलना होगा। किसी एक पक्ष को ग्रहण किये बिना उपाय नहीं। कवि सिसिल डे० ल्यूईस के शब्दों में—'only ghosts can live between two fires' इसलिए इस कोटि के कवि जीवन के समस्त दुःख, कष्ट, नैराश्य एवं व्यर्थता के बीच भी भविष्य के ज्योतिर्मय रूप को अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं और समाज चेतना एवं ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति के ऊपर उसे खड़ा करके मानव मन के समस्त क्लैव्य एवं दैन्य का अन्त कर देना चाहते हैं। भविष्य में इनका अविचल विश्वास है। इंगलैण्ड के अडेन (W. H. Auden) डे ल्यूइस (C. day Lewis) स्टिफेन स्पेण्डर (Stehen Spender) फ्रान्स के जिद (Auder gide) आदि कवियों के काव्य में इसी विप्लववादी प्रगति का आभास मिलता है।

यूरोपीय साहित्य की इस अति आधुनिक भावधारा का प्रभाव हमारे देश के साहित्य पर भी—विशेषतः काव्य पर—पड़ा है। इस समय के अनेक तरुण कवि और पहली धारा के कई प्रतीकवादी या छायावादी प्रमुख कवि भी इस नूतन भाव-धारा का अपने काव्य में अनुसरण करने लगे हैं। इस प्रकार की कविताओं के भविष्य के सम्बन्ध में अभी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि इसमें प्रकृत साम्यवादी समाज का रूप प्रस्फुटित न हो सके अथवा काव्योचित रस का इसमें यथेष्ट विकास न होने पावे किन्तु, फिर भी बर्तमान युग में इस प्रकार की कविताओं का यथेष्ट मूल्य है। उद्दीप्त

भाषा में विप्लव का जो जयगान बुर्जुआ श्रेणी के इन विप्लवी कवियों के कण्ठ से उच्चारित होगा, वह देश के तरुणों को समाज के आर्थिक वैषम्य के सम्बन्ध में सचेतन करेगा और श्रमजीवियों के मुक्ति-संग्राम में भाग लेने के लिये उन्हें अनुप्राणित करेगा। इस दृष्टि से विप्लव के इस काल्पनिक संगीत की भी सार्थकता अवश्य है। सभ्यता के आदिम युग में जिस प्रकार मनुष्य कविता या गाने द्वारा अनुप्राणित होकर संघ-बद्ध रूप में कल्पना को वास्तविकता देने के लिये कार्य्य करते थे, उसी प्रकार इन आधुनिक प्रगतिवादी कवियों की कविता भी मनुष्य के मन में भावी समाज-व्यवस्था को न्याय एवं साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिये कल्पना को वास्तव रूप प्रदान करने की प्रेरणा उत्पन्न करेगी। इस दृष्टि से इनकी कविता पर आक्षेप न करके हमें उसका अभिनन्दन करना चाहिये।

किन्तु इस प्रसङ्ग में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है कविता में साम्यवाद का जय-गान होने या लाल झंडा अथवा हँसुआ-हथोड़ा का उल्लेख होने से ही वह कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती और न इस कोटि के कवियों को हम निर्भ्रान्त रूप में वास्तविक कवि मान लेने के लिये तैयार होंगे। कविता तभी प्रकृत कविता होगी, जब वह कवि की भावना एंव कल्पना से स्वतः प्रसूत होगी और उसमें रस का यथेष्ट परिपाक होगा। काव्योचित कल्पना-शैली, रूप एवं रस के संबंध में साम्यवादी कवि की कविता में भी कुछ न कुछ वैशिष्ट्य अवश्य होगा। अन्यथा वह काव्य न होकर प्रोपैगैण्डा या प्रचार-पुस्तिका होगी। इस संबंध में साम्यवादी कवि एवं समालोचक A. Solivenosky की यह उक्ति हमें स्मरण रखनी चाहिये।

"To become an artist of socialism means, if you come from the intelligentsia, that not only must you be convinced that the ideas of socialism are correct, but that you must alter your previously—formed poetic style. It means that you must overcome and discard many of

your former ideas about life: you must change your way of looking at the world. But this alteration does not imply of course, that the subject matter, imagery and style of the poet of socialism is made to lose all individuality and is reduced to complete uniformity. This is far from the case. The fact is that it is socialism that ensures the all round development and growth of human individual',

अर्थात् बुद्धिजीवी श्रेणी के होने पर भी यदि आप समाजवादी कलाकार बनना चाहते हैं, तो आपको केवल समाजवाद की विचार-धारा की सत्यता के सम्बन्ध में ही निःसंशय नहीं होना पड़ेगा, बल्कि आपको अपनी पूर्व गठित काव्य-शैली में भी परिवर्त्तन करना पड़ेगा। जीवन के सम्बन्ध में आपकी जो सब धारणायें पूर्व में थीं, उनका परित्याग करके उनसे ऊपर उठना होगा। संसार को अब तक आप जिस दृष्टिकोण से देखते आ रहे थे, उस दृष्टिकोण में भी परिवर्त्तन करना होगा। किन्तु इस परिवर्त्तन का अर्थ यह नहीं होगा कि समाजवादी कवि की विषय-वस्तु, कल्पना एवं शैली में कोई विशिष्टता नहीं रह जायगी और सब कविता एक ही ढाँचे पर ढली होगी। असल बात तो यह है कि समाजवाद में ही व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास सम्भव हो सकता है।"

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि एक श्रेणी के आधुनिक कवि की कविताओं में शब्दों की कलाबाजी, चातुर्य्य एवं कौशल की भरमार इतनी अधिक होती है कि साधारण पाठकों के लिये वे सर्वथा दुरूह एवं दुर्बोध बन जाती हैं। इस प्रकार की कविताओं का अधिकांश गद्य में लिखा जाता है। अक्षर एवं पंक्तियों को सजाकर इस गद्यात्मक कविता को एक अभिनव रूप दिया जाता है। इनका कहना है कि ध्वनि-तरंग के आरोह-अवरोह के अनुसार अक्षरों एवं पंक्तियों का विन्यास एवं विच्छेद, आकस्मिक रूप में बड़े अक्षर का आविर्भाव आदि के द्वारा शब्दों में जो परस्पर संघात होगा, उससे एक संगीत हमारे मन के तारों पर आघात पहुँचा कर उन्हें झंकृत कर देगा, जिससे एक अस्फुट एवं अप्रबुद्ध अनुभूति का जन्म होगा। विशुद्ध कविता का काम हमारे

अवचेतन मन की इन्हीं सुषुप्त अनुभूतियों को जाग्रत कर देना है। यह अनुभूति पाठक के व्यक्तिगत मन के उपादान के अनुसार एक-एक रूप ग्रहण करती है और इस दृष्टि से ही इस प्रकार की कविताओं का एक सार्वभौम रूप होता है। अमेरिका के कमिङ्स इस श्रेणी के कवियों में अग्रणी हैं। ये मनुष्य के अवचेतन मन पर विशेष जोर देते हैं। केवल काव्य में ही नहीं, चित्र-कला में भी इस मत का प्रकाश Sur-realism के नाम से हो रहा है। इस श्रेणी के चित्रकार मनुष्य के अवचेतन मन की दोहाई देकर चित्रों को दुर्बोध बना रहे हैं। पहले चित्रकला पर और बाद में काव्यकला पर इस Sur-realism का प्रभाव पड़ा है। समालोचकों ने अवचेतन मन की लीलाओं को ही Sur-realism नाम दिया है। हमारे मन के गहन प्रदेश में अनेक परस्पर-विरोधी, असंलग्न विचारों का संघात चलता रहता है। प्रचलित भाषा एवं शैली द्वारा जिस समय हम अपने भावों को व्यक्त करते हैं, उस समय हमारा वह अवचेतन मन दब जाता है। कृत्रिम भाषा एवं शैली में हम जो कुछ प्रयास करते हैं उसमें अर्थ, सङ्गीत, वर्णन-कौशल, रस-माधुर्य आदि सब कुछ हो सकते हैं— किन्तु वास्तविक मन के भाव को प्रकट करने के लिये केवल छन्द ही नहीं, अर्थ की बोधगम्यता भी बाधा-स्वरूप है। यूरोप और अमेरिका के साहित्य पर इस मतवाद का अभी विशेष रूप में प्रभाव नहीं पड़ा है किन्तु एक समय ऐसा भी आ सकता है कि अवचेतन मन के नाम पर काव्य में इस समय जो अबोधता, दुरूहता एवं शब्दों की कलाबाजी दीख पड़ती है, वह दूर हो जायगी और अवचेतन मन को लेकर जो कविता लिखी जायगी, उसका आधार विशुद्ध वैज्ञानिक होगा और इसमें भी रसका यथेष्ट परिपाक होगा। ऐसा होने से ही यह कविता सार्थक हो सकेगी।

आधुनिक या अति आधुनिक युग का काव्य चाहे प्रज्ञावाद को लेकर चले या समाजवाद को अथवा मनुष्य के अवचेतन मन की लीलाओं को लेकर किन्तु, उसकी सफलता की कसौटी यही होगी कि वह मनुष्य की संस्कृति की प्रवाहमान धारा को कुछ और आगे बढ़ा दे, स्रोत के मार्ग में जो रोड़े-पत्थर हों, उन्हें दूर कर दे। यह काव्य वास्तव जीवन के सम्पर्क से विच्छिन्न कल्पना-विलास को स्वीकार नहीं करेगा, मुट्ठी भर लोगों के मनोरञ्जन एवं उपभोग के

लिये समष्टि के सुख-दुःख की उपेक्षा नहीं करेगा। उसका आदर्श होगा वास्तववाद और नीति में वह विप्लवमार्गी होगा, उसकी गति मानवता की ओर होगी। अभी इस प्रकार की कविता का प्रकृत स्वरूप किसी भी देश के काव्य में प्रकट नहीं हुआ है। किन्तु इसके लिये क्षेत्र अभी से प्रस्तुत हो रहा है। कवि की जीवन-वेदना से स्फूर्त होकर जिस दिन यह काव्य रूप ग्रहण करेगा, उस दिन ही हम उसमें चिर स्पन्दनमान प्राणशक्ति एवं कर्ममुखर गति-शील जीवन की उन्मादता का अनुभव करेंगे और वह मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का पथ-प्रदर्शक एवं अग्रदूत बनेगा।

कहानी-कला

प्रत्येक देश के साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास की आलोचना करने से हमें पता चलता है कि उस देश के निवासियों में गल्प या उपन्यास के रूप में कितनी ही दन्तकथाएँ प्रचलित थीं। उस समय लिखने कि सामग्री सब लोगों के लिए सुलभ नहीं थी, इसलिए लोग एक-दूसरे के मुँह से कथा-कहानी सुनकर ही आनन्द प्राप्त कर लिया करते थे। इस रूप में ही एक-दूसरे से सुन-कर दन्तकथाएँ सारे देश में प्रचलित हो जाती थीं। यही साहित्य बाद में चल कर कथा-साहित्य के नाम से विख्यात हुआ।

कथा साहित्य की उत्पत्ति सब से पहले कहाँ किस रूप में हुई, यह निर्णय करना सहज नहीं है। किन्तु यह सब देशों में और सब काल में विद्यमान था, यह निर्विवाद मान लिया जा सकता है। अनेक विद्वानों के मत से गल्प या छोटी कहानी का सन्धान सबसे प्राचीन कालमें मिस्र देश में मिलता है। उस कहानी का नाम था अनपू और बाटा (Anpu and Bata) की कहानी। सब से बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि आधुनिक कहानियों के साथ अति प्राचीन युगकी उक्त कहानी का सादृश्य अनेकांश में है। दो युवक एक ही बालिका से प्रेम करते हैं और उनमें से एक के साथ उस बालिका का विवाह हो जाता है। दूसरे प्रेमिक के मनोभाव एवं कार्य को लेकर गल्प की रचना की

गई है। कहते हैं कि मिस्र देश के पंचम राजवंश के समय में इस गल्प की रचना हुई थी —अर्थात्, ईस्वी सन् से कई हजार वर्ष पूर्व। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी कथा का अस्तित्व पाया जाता है। बौद्ध जातकों का समय ईस्वी सन् से छः-सात सौ वर्ष पूर्व माना गया है। इन जातकों में तत्कालीन जन-समाज में प्रचलित कहानियों के बीच-बीच में लोक-शिक्षा के उद्देश्य से नीति-ज्ञानमूलक गाथाएँ जोड़ दी गई हैं। पंचतन्त्र की अनेक कथाएँ जातकों में भी पाई जाती हैं। संस्कृत में 'पंचतन्त्र,' 'हितोपदेश,' सोमदेव-कृत 'कथासरित-सागर,' 'बैताल पंचविंशति,' 'शुकसप्तति,' 'सिंहासन द्वात्रिंशका' आदि ग्रन्थ कथा-साहित्य के अन्तर्गत लिए जा सकते हैं।

फारस के बादशाह खुसरू नसिरवान के समय में 'हितोपदेश' का पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसके बाद ग्रीक, अरबी आदि भाषाओं में भी उसका रूपान्तर हुआ। अरब में 'अलिफलैला,' फारस में शहरियार की कहानी और अङ्गरेजी में ईसप की कहानियाँ आदि भी प्राचीन कथा साहित्य के ही रूप हैं।

न मालूम किस अतीत युग के वसन्तकालीन प्रभात में या शीत काल की सन्ध्या में इस कथा-साहित्य की सृष्टि हुई थी—अन्न के खेत में, वृक्ष की छाया में, अथवा अग्निकुण्ड के पार्श्व में। 'एक था राजा,'—कथा-साहित्य की यह चिर पुरातन वाणी सारे देश के वातावरण में परिव्याप्त हो गई थी। यह बहुत पुराने जमाने की बात है। उस समय से ही हम दादी, नानी और बुआ के मुँह से सागर पार की राजकन्या की विचित्र कहानी, दैत्य राक्षसों की गल्प आदि सुनते आ रहे हैं। उस समय से ही इन कथा-कहानियों की अनवद्य झंकार प्रत्येक मनुष्य के मन में एक सम्मोहन सुर जागरित करती आ रही है। इस कथा-साहित्य का महत्व एवं दान असाधारण है। जैसा कि एक समालोचक ने लिखा है—'They are not to be valued, because they make long nights short !' अर्थात 'उनका महत्व केवल इतना ही नहीं है कि इन कहानियों को सुनकर हम लम्बी रातें सहज ही काट लेते हैं, बल्कि ये हमारे हृदय के स्तर-स्तर में रस संचार करके पवित्र दीपशिखा प्रज्वलित कर देती हैं और उन्हीं की रश्मियाँ सारे विश्व में विकीर्ण हो जाती हैं। ये रूप में, रस में और गीत-झंकार में अभिनव आनन्द की सृष्टि करती हैं। मनुष्य के मनमें आनन्द का

संचार करना ही यदि साहित्य एवं काल का उद्देश्य हो, तो हम कह सकते हैं कि कथा-साहित्य हमारे अन्तर में जिस निर्दोष आनन्द एवं रस की सृष्टि करता है, उसके कारण वह साहित्य-भण्डार का एक अमूल्य रत्न है।—It delights the mind of the young and old alike! वस्तुतः इसके द्वारा बालक, युवक एवं वृद्ध सबका समान रूप में मनोरंजन होता है। बालकों के आनन्द का यह उत्स है, युवक-युवतियों की प्रणय-पिपासा का अमृत कुण्ड और वृद्धों का शास्त्र। मूर्ख और पण्डित दोनों के लिए समान रूप में उपभोग्य है।

साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर आज कहानी, गल्प और उपन्यास का स्थान विश्व-साहित्य के दरबार में सर्वोच्च है। इनमें छोटी कहानियों का मूल्य आधुनिक साहित्य-रसिकों की दृष्टि में सबसे बढ़कर है। विदेशी साहित्य में भी छोटी कहानियों ने विराट् स्थान ग्रहण किया है। इसके मूल में अनेक विश्व-विख्यात साहित्यिकों की साधना एवं अविश्रान्त अनुप्रेरणा काम कर रही है। इनमें फ्रांस के मेरिमि उडेट और मोपासां, जर्मनी के पलहेसि और रूस के टालस्टाय, पुश्किन, गोर्की और चेखव विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं।

आधुनिक युग में छोटी कहानियों की लोकप्रियता जो इतनी बढ़ रही है, उसके अनेक कारण है। यह यांत्रिक सभ्यता का युग है। आज मनुष्य के नित्य प्रति के जीवन में कर्मव्यस्तता एवं जटिलता पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा बढ़ गई है। मशीनों के जाल में आबद्ध मनुष्य का जीवन मशीनों की तरह परिचालित हो रहा है। जीवन-गति क्रमशः द्रुत से द्रुततर हो रही है। जीवन के उद्दाम गतिवेग में मनुष्य उन्मत्त हो रहा है। इस प्रकार के कर्म-क्लान्त जीवन में ही आज का मनुष्य अपने लिये कुछ ऐसे क्षण या सुयोग-सुविधा निकाल लेता है, जिसमें वह निरानन्द जीवन को आनन्दरस से सरसित कर सके, जो रस प्राण को सजीव कर सके। साहित्य-साधना के लिए ऐसे ही अवसर ढूँढ़ निकालने होते हैं। इस प्रकार व्यस्त एवं जटिल जीवन में बड़े-बड़े उपन्यासों या अन्य प्रकार की पुस्तकों को पढ़ने के लिए समय निकालना सम्भव नहीं होता और इसके लिए अनेक समय में धैर्य का भी अभाव देखा जाता है। इसीसे हमलोगों को ट्रेन या बस में यात्रा करते समय या कभी-कभी राह चलते भी अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करते पाते हैं। इसके सिवा

आजकल पत्र-पत्रिकाओं में भी इस प्रकार की बहुत-सी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं, जो एक ही अंक में समाप्त हो जाती हैं। इन कहानियों को अधिकांश पाठक अल्प समय में ही दिलचस्पी के साथ पढ़ लेते हैं और उनका समय आनन्द से कट जाता है। इन्हीं सब कारणों से जन-साधारण में छोटी कहानियों की कद्र बढ़ रही है। किन्तु इससे यह नहीं अनुमान कर लेना चाहिए कि एक दिन ऐसा आयगा, जब कि उपन्यास का स्थान छोटी कहानी ग्रहण कर लेगी। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा निर्मूल है। उपन्यास एवं गल्प दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक का स्थान दूसरा ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि एक दूसरे के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता। उपन्यास एवं गल्प में सादृश्य है अवश्य किन्तु साथ ही दोनों में विभिन्नताएँ भी हैं। उपन्यास में किसी चरित्र की सम्पूर्णता होनी आवश्यक है, गल्प में चरित्र के किसी अंश-विशेष का चित्रण होने से ही काम चल जाता है। उपन्यास में नाना चरित्रों के समावेश द्वारा समाज का एक सर्वाङ्गपूर्ण चित्र अंकित किया जाता है, गल्प में दो-एक चरित्रों के दो-एक स्वरूपों को चित्रित कर देना ही यथेष्ट है। किन्तु इस चरित्र-चित्रण की प्रणाली क्या होगी, इसको लेकर ही समस्या उपस्थित होती है। गल्प में विषय-वस्तु होती है, रचना-कौशल होता है और उससे भी बढ़कर एक वस्तु होती है वास्तविकता को प्रस्फुटित करने का कौशल। उपन्यास में जटिल मानव जीवन की मनोवृत्तियों तथा उसके बाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्वों का जो सूक्ष्म एवं विभिन्नमुखी चित्र हमें देखने को मिलता है, वह छोटी कहानी में सम्भव नहीं हो सकता ; क्योंकि इसके लिए चाहिए सुपरिसर स्थान, जिसका छोटी कहानी में सर्वथा अभाव होता है। चरित्र का क्रम-विकाश, उसकी जटिलताओं का विश्लेषण एवं सहज समाधान भी हम छोटी कहानी में नहीं पाते ; किन्तु किसी-किसी गल्प-लेखक में हम इस नियम का अपवाद भी पाते हैं। सुप्रसिद्ध फ़रासीसी गल्पलेखक मोपासां ने अपनी छोटी कहानियों की संकीर्ण परिधि में चरित्र-चित्रण का जो कौशल प्रदर्शित किया है, वह उसके उपन्यासों में भी मुश्किल से मिलेगा। साधारणतः कहानी में हम मानव-चरित्र के अंश-विशेष का ही कोई विशिष्ट रूप पाते हैं। मान लीजिए कि किसी चरित्रहीन व्यक्ति का चित्रांकण गल्प में करना हो, तो कब से उसके चरित्र का क्रमशः अधःपतन

शुरू हुआ, किन घटनाओं के घात-प्रतिघात एवं परिवर्तन के बीच वह अवनति की ओर बढ़ता गया और इसका अन्तिम परिणाम क्या हुआ—यह सब जानने का सुयोग हमें गल्प में नहीं मिल सकता। छोटी कहानियों के नायक-नायिका के साथ हमारा परिचय क्षण भर के लिए होता है। उनके साथ हमारा घनिष्ट परिचय नहीं हो पाता, जिससे वे हमें अच्छी तरह जानने-पहचानने का मौका नहीं देते। अज्ञात एवं अपरिचित रूप में रहस्य के अन्तराल में छिपकर क्षण भर के लिए अपने साथ परिचित होने का सुयोग वे हमें प्रदान करते हैं। यही कारण है कि उनके चरित्र का कोई स्थायी या व्यापक प्रभाव हमारे मन के ऊपर नहीं पड़ता। वे केवल अस्पष्ट चिह्न मात्र हमारे मानस पटल पर अंकित कर जाते हैं। इसके विपरीत उपन्यास के नायक-नायिका के साथ हमारा परिचय अधिक समय के लिए होता है, उनके चरित्र का क्रम-विकाश हमें देखने को मिलता है, इसलिए हमारे मन पर उनकी छाप उज्ज्वल रूप में पड़ती है। उपन्यास में विचार करने की सामग्री विशेष रूप में पाई जाती है। किन्तु किसी-किसी श्रेष्ट गल्प-लेखक की कहानी में भी इस प्रकार की जटिल समस्या एवं चिन्ता करने का विषय पाया जाता है, जो बड़े-बड़े उपन्यासों में भी नहीं मिलता। चाहे जो कुछ हो, किन्तु जब तक मनुष्य का जीवन रहस्यपूर्ण एवं जटिल बना रहेगा और उन रहस्यों एवं जटिलताओं के सूक्ष्म विश्लेषण में मनुष्य आनन्द लाभ करेगा, तब तक उपन्यास का स्थान ज्यों का त्यों बना रहेगा और उसके महत्व में जरा भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

इसलिए उपन्यास के प्रतिद्वन्द्वी रूप में नहीं, बल्कि साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में हम यहाँ गल्प की आलोचना करेंगे। एलेन पो ने छोटी कहानी की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वह इस प्रकार की होनी चाहिए जिसके पढ़ने में आध घंटा, एक घंटा या अधिक से अधिक दो घंटा समय लगे। जिस कहानी को एक बार पढ़ना शुरू करने पर हम उसे सहज ही समाप्त कर सकें, उसे ही हम छोटी कहानी के अन्तर्गत मान सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि छोटी कहानी संक्षिप्त उपन्यास का ही रूप है, अथवा जो विषय कई सौ पृष्ठों में विवृत हो सकता है उसका ही तात्पर्य गल्प में रहता है। एक सौ वर्ष पहले उपन्यास और गल्प में विशेष पार्थक्य नहीं देखा

जाता था। डिकेन्स के 'क्रिसमस बुक' को हम एक छोटा उपन्यास ही कह सकते हैं, यद्यपि एक विशिष्ट भंगी से उसमें कहानी कही गई है और उसमें रस का भी यथेष्ट परिपाक हुआ है। डिकेन्स के युग में कहानी लिखने का जो कौशल था, उससे आज की कहानी-कला, विषय-वस्तु एवं रचना-प्रणाली में बहुत कुछ अन्तर है। आज कहानी और उपन्यास में केवल आकार को लेकर ही नहीं, बल्कि उद्देश्य, कथानक, रचना-कौशल आदि को लेकर भी विशेष अन्तर है, और इन सब दिशाओं में कहानी की अपनी निज की प्रणाली एवं विशिष्ट भंगी स्पष्ट प्रकट होती है। छोटी कहानी की कथावस्तु इस रूप में होनी चाहिए कि वह एक निर्दिष्ट सीमा के अन्दर स्पष्ट एवं परिपूर्ण रूप में व्यक्त हो सके। इस विषय में उपन्यासकार को जितनी स्वाधीनता है, उतनी गल्प-लेखक को नहीं। उपन्यास की गति सहज एवं स्वच्छन्द होती है। कल्पना की मायापुरी में स्वच्छन्द भाव से विचरण करते हुए औपन्यासिक रंग-बिरंगे फूलों का संग्रह कर सकता है। बहुत दूर तक अग्रसर होकर भी उसके लौटने का पथ प्रशस्त बना रहता है। संकीर्ण परिसर के अन्दर उपन्यास को समाप्त करने की चिन्ता उसे नहीं लगी रहती; क्योंकि ऐसे बहुत कम उपन्यास होते हैं, जिन्हें हम एक बार पढ़ना शुरू करने पर फिर समाप्त कर के ही उठें। लगातार कई दिनों तक या हफ्तों तक एक उपन्यास पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार क्रमशः पढ़ते रहने से रस में भी व्याघात नहीं होता और न पाठकों की दिलचस्पी ही कम होती है। किन्तु छोटी कहानी के साथ यह बात नहीं है। छोटी कहानी हो क्रमशः पढ़ने से रसानुभूति की मात्रा क्षुण्ण हुए बिना नहीं रह सकती। पाठकों का कौतूहल एवं आग्रह भी अनेकांश में मन्द पड़ जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यास के आकार की कोई निर्दिष्ट सीमा ही नहीं हो, और वह इतना दीर्घ हो जाय कि उसके कथानक के आद्यन्त की सामंजस्य-रक्षा नहीं हो सके और पाठकों के मन पर सहज ही उसकी स्पष्ट धारणा नहीं जम सके। 'माण्टीक्रिस्टो' 'मिस्ट्रीज आफ पेरिस' 'ला मिजरेबल' 'वार एण्ड पीस' तथा डिकेन्स और थेकरे के कई उपन्यास ऐसे ही हैं। इनके आदि और अन्त के बीच स्पष्टरूप में समन्वय बनाए रखना पाठकों के लिए सहज नहीं होता। किसी-किसी गल्प-लेखक की कहानी भी

निर्दिष्ट सीमा के बाहर चली जाती है। स्टीवेन्स की 'न्यू अरेबियन नाइटस्' कहानी और कोनन डायल की 'शरलक होम' कहानी काफी बड़ी हो गई है। इस प्रकार की कहानियों का उपन्यास के साथ बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। इसलिए इन्हें यथार्थ रूप में छोटी कहानी की श्रेणी में नहीं माना जा सकता।

आकार के सम्बन्ध में उपन्यास की अपेक्षा नाटक के साथ छोटी कहानी का अधिक सादृश्य है। नाटककार को भी इस बात पर दृष्टि रखनी होती है कि नाटक बहुत बड़ा न हो जाय और एक बार में ही वह समाप्त हो जाय। इस प्रकार के संकीर्ण क्षेत्र में ही नाटककार को अपना उद्देश्य सिद्ध करना पड़ता है। रंगशाला में अभिनय करने योग्य नाटक दो हजार पँक्तियों से अधिक का नहीं होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि गल्प-लेखक एवं नाटककार को संकीर्ण क्षेत्र के अन्दर ही अपने रचना-कौशल की विशिष्टता द्वारा मनोरम रूप में अपना उद्देश्य पूरा करना पड़ता है। इसलिए विषय-वस्तु या कथानक के निर्वाचन में दोनों को विशेष विवेचना एवं कौशल से काम लेना पड़ता है। कथानक की घटना में काफी काट-छाँट करके केवल प्रयोजनीय अंश को रखना पड़ता है।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सब समय कहानी में केवल एक ही घटना या दृश्य-विशेष का समावेश होगा। कहानी एक या एक से अधिक घटनाओं को केन्द्र कर चल सकती है। उसमें चरित्र के अंश विशेष का अथवा समस्त चरित्र के क्रमविकास का धारावाहिक विश्लेषण हो सकता है। किन्तु सभी क्षेत्र में एक बात आवश्यक है और वह है उसका रचना-कौशल। इस रचना-कौशल पर ही छोटी या बड़ी कहानी की सफलता सम्पूर्णतया निर्भर करती है। उपन्यास में किसी घटना को प्रकाशित करने के लिए जितने समय की आवश्यकता है उस से भी अधिक समय की अनेक घटनाओं का सम्मिश्रण कहानी में हो सकता है। वाशिंगटन इर्विंग के 'रिप वान विंकिल' में समाज-जीवन की एक कौतुकपूर्ण कहानी अंकित हुई है; किन्तु उसका रचना-कौशल इतना चमत्कारपूर्ण है कि संक्षिप्त स्थान में ही सारी कहानी का समावेश हो गया है। रिप के निद्रारम्भ से लेकर जागरण तक के बीच में किसी अनावश्यक घटना को स्थान नहीं मिला है। फिर भी पाठकों

का आग्रह एवं कौतुहल अणुमात्र भी क्षुण्ण नहीं होता। मोपासाँ की 'ला परपूर' कहानी उसकी सुप्रसिद्ध कहानियों में अन्यतम है। वह चिरकालीन विषण्ण जीवन की एक व्यथातुर कहानी है। इस कहानी में बड़ी कुशलता के साथ प्लाट से अप्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं को अलग रखकर केवल एक घटना-विशेष को केन्द्र बनाकर विषय-वस्तु का विकाश किया गया है और पाठकों की दृष्टि भी बराबर उस विषय-वस्तु पर ही केन्द्रित रहती है। इसलिए एक निर्दिष्ट सीमा के भीतर जहाँ कहानी को एक स्पष्ट एवं नियन्त्रित रूप में आगे बढ़ाना पड़ता है, वहाँ इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी विषय-वस्तु के साथ रचना-कौशल अथवा टेकनिक का पूर्ण सामंजस्य हो। रचनाकौशल एवं प्रकाश-भंगी की विशिष्टता के बिना कहानी चाहे छोटी हो या बड़ी, उसका महत्व बहुत कम रह जाता है। कहानी-कला के सम्बन्ध में दूसरी बात जो लक्ष्य करने की है, वह है कथानक की एकता एवं संगति। एकता का अर्थ है उद्देश्य, लक्ष्य, कार्य एवं काल-विशेष का पाठक के मन के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी एकता। छोटी कहानी की आलोच्य विषय-वस्तु एक ही होती है और उसी को प्रधानता देते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। कहानी बड़ी, छोटी या न बहुत बड़ी या न बहुत छोटी हो सकती है; किन्तु उसकी मूल विषय-वस्तु की एकता एवं संगति पर बराबर ध्यान रखना पड़ता है। हार्थन, एलेन पो, स्टीवेन्स, मोपासां और हिन्दी के कुछ लेखकों की कहानियाँ कहानी-कला के उत्कर्ष की दृष्टि से उत्तम कहानियाँ हैं। उपन्यास में इतनी विभिन्न प्रकार की घटनाओं का एक साथ ही समावेश होता है कि लेखक का मूल उद्देश्य ढूँढ़ निकालना कठिन हो जाता है। उपन्यास में एक या एक से अधिक आवश्यक विषय-वस्तुओं का सम्मिश्रण बहुत सम्भव है; किन्तु कहानी के समय एवं स्थान को देखते हुए यह सम्भव नहीं होता। कहानी के संकीर्ण क्षेत्र में घटना बहुल एवं जटिल नहीं हो सकती। स्काट के 'वेवरली' में कथानक की जटिलता इतनी बढ़ गई है कि उससे आख्यान में रसहानि हुए बिना नहीं रहा है और सारी कहानी नीरस प्रतीत होती है।

कहानी का उद्देश्य मानवमन के निगूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करना है और मानव-मनका यह निगढ रहस्य कहानी अथवा उपन्यास द्वारा ही प्रकाशित

होता है। श्रेष्ठ कला इन दो उपादानों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करती है। रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र के उपन्यास एवं कहानियों की गंभीर आलोचना करने से मालूम होता है कि मानव मन के परम आश्चर्यमय एवं रहस्यपूर्ण वैशिष्ट्य को देखकर ही उनकी कवि-प्रतिभा स्पन्दित हुई थी और उसे प्रकाशित करने के लिए ही उन्होंने कहानी का सूत्र ग्रथित किया था ।

समग्र का जिस प्रकार एक सौन्दर्य है, समग्र के अंश का भी उसी प्रकार एक सौन्दर्य है । शिल्पी के हाथ से कहानी में यह अंश ही परिपूर्ण रूप से प्रकाशित होता है । अपने अनभ्यस्त नेत्र से हम इसे देख नहीं सकते । किन्तु शिल्पी जब किसी कहानी में अपनी प्रतिभा द्वारा समग्र से पृथक करके उस अंश का सौन्दर्य हमें दिखला देता है, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता । मानव-जीवन के एक-एक अंश को, एक एक मुहूर्त्त को चुनकर उसके द्वारा एक परिपूर्ण चित्र मनोरम रूप में चित्रित करना श्रेष्ट कहानी-कला का निदर्शन है।

गल्प-रचना, उपन्यास-रचना की अपेक्षा सहज या कठिन है, यह नहीं कहा जा सकता । फिर भी लोग ऐसा समझते हैं कि उपन्यास-रचना में लेखक के ऊपर जितना दायित्व होता है, उतना गल्प-रचना में नहीं । शायद इसी कारण गल्प-रचना की ओर नवीन लेखकों का झुकाव विशेष रूप में देखा जाता है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि गल्प-लेखक का दायित्व किसी की अपेक्षा कम नहीं है । उसे मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश करके सार्वजनीन मत एवं पथ का सम्पूर्ण रूप में परिचय प्राप्त एवं विश्लेषणात्मक शक्ति संग्रह करना पड़ता है । इसके लिए उसे धर्मतत्व, समाजतत्व, इतिहास, राजनीति, अर्थनीति, मनोविज्ञान इत्यादि विषयों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए ।

साहित्य में हास्य-रस

मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो हँस सकता है। अन्य प्राणी हँस नहीं सकते। हास्य द्वारा आनन्द-प्रकाश की क्षमता मनुष्य के प्रति विधाता की एक बहुत बड़ी देन है। इसीसे सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य हँसता आ रहा है और आगे भी हँसता रहेगा। हास्य-कौतुक में कुछ ऐसा जादू है, जिससे मनुष्य के मन में निरानन्द का अन्धकार दूर हो जाता है। हास्यरस का यदि जीवन में स्थान न हो, तो मनुष्य के लिए जीवन धारण करने में कोई स्वाद ही नहीं रह जायगा। मनुष्य की जीवन-रूपी मरुभूमि में हास्य ही मरुद्यान है। शोक, दुःख, नैराश्य एवं अवसाद से जब मनुष्य का मन भाराक्रान्त हो उठता है, उसी समय वह हास्य-रस का प्रयोजन अनुभव करता है। जो मनुष्य घोर दुःख एवं विपदाओं के बीच भी दिल खोलकर हँस सकता है, वही सबसे बढ़-कर सुखी है। सदा हास्यपरायण व्यक्ति दुःखों के बीच भी अपनी सहज-स्वाभाविक वृत्ति नहीं छोड़ता। प्रचीन काल के राजा लोग हास्य-रस का मूल्य जानते थे। उनके दरबारों में रसिक लोगों का सम्मान होता था। मनुष्य स्वयं सदा हँस नहीं सकता। अगर कोई मनुष्य हमेशा हँसता ही रहे, तो लोग उसे पागल कहेंगे। इसलिए मनुष्य जब स्वयं हँस नहीं सकता, तो वह मानसिक एवं शारीरिक क्लान्ति दूर करने के लिए कृत्रिम उपायों से हास्य की सृष्टि करता है। राजा लोग स्वयं नहीं हँस सकते थे, तभी तो वे अपने दरबारों में विदूषकों या भाँड़ों को हँसाने के लिए रखा करते थे। शक्तिशाली इंजन के लिए जिस प्रकार वायु-निःसरण-द्वार (Safety-valve) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनुष्य के देह-यन्त्र के लिए भी हास्य की आवश्यकता है। शरीर-शास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि जैवधर्म के नियमानुसार हास्य की सार्थकता है। प्राचीन पण्डितों ने हास्य की आवश्यकता को स्वीकार किया है। ग्रीक पुराणों में वेनस को हास्य की देवी के रूपमें माना गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य हँसता क्यों है और उसके हास्य के मूल में कौन-सी प्रवृत्ति काम करती है? इस प्रश्न के उत्तर में मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि आकस्मिक एवं अनपेक्षित मनश्चांचल्य, जिससे शारीरिक अथवा

मानसिक वेदना की अनुभूति किंवा अनुकम्पा का संचार नहीं होता, ही मनुष्य की हास्य-प्रवृत्ति का मूल कारण है। जिस समय मनुष्य का चित्त हल्का रहता है, आकस्मिक, अनपेक्षित अथवा शारीरिक या मानसिक वेदना, दुःख, आशंका या अनुकम्पा का संचार उसके मन में नहीं होता और इस अवस्था में जो मनश्चांचल्य संघटित होता है, वही हमारे लिए हास्य का उपादान जुटाता है।

मानलीजिए, कोई प्रौढ़-वयस्क व्यक्ति जल्दी से किसी काम के लिए सड़क पर जा रहा है। तेजी से कदम बढ़ाते हुए अचानक उसका पाँव फिसल गया और वह धड़ाम से गिर पड़ा, तो इससे हमें हँसी आती है। क्यों ? इसलिए कि एक वयस्क व्यक्ति के धीर-गम्भीर भाव से चलने के साथ उसके पाँव का फिसलना असंगत है और साथ ही अनपेक्षित भी। किन्तु एक बच्चा, जिसे अभी ठीक से चलना नहीं आया है, यदि फिसलकर गिर पड़ता है, तो हमें हँसी नहीं आती ; क्योंकि अभी वह चलने में अभ्यस्त नहीं हुआ है और न उसमें उतनी सतर्कता ही आई है। इसके सिवा बच्चे के प्रति हमारी स्वाभाविक अनुकम्पा भी होती है। मगर वही प्रौढ़ व्यक्ति यदि ट्रेन से गिर जाय, तो हमें हँसी नहीं आयगी। किसी की विलक्षण वेशभूषा देखकर जो हम हँसने लगते हैं; इसका कारण यह है कि मनुष्य की वेश-भूषा के सम्बन्ध में हमारे मन में जो धारण जमी हुई है, उस आदर्श धारणा के साथ उस व्यक्ति की वेश-भूषा का कोई सामंजस्य नहीं है।

जिन अवस्थाओं को हम हास्यजनक कहते हैं, उनमें कौन-सी ऐसी विशेषता होती है, जिस के कारण वे 'हास्योद्दीपक' कही जाती हैं, इस विषय को लेकर मनोवैज्ञानिकों में आज भी गवेषणाएँ चल रही हैं। आचार्य फ्रायड के मत से जो सब असामाजिक वृत्तियाँ हमारे मन के अवचेतन प्रदेश में अवरुद्ध होकर रहती हैं, हास्य-कौतुक में वे ही छद्मरूप में प्रकाशित होती हैं। केले के छिलके पर पाँव पड़ने से फिसलकर गिर जानेवाले व्यक्ति के प्रति हमारे मन के किसी गोपन प्रदेश में पहले से ही विद्वेष रहता है, इसीलिए फिसलकर गिरने की घटना हमें कौतूहलप्रद प्रतीत होती है।

हाब्स के मत से किसी व्यक्ति की दैहिक, मानसिक या सामाजिक अवस्था में जब अवनति होती है, तभी हम कौतुक का बोध करते हैं। व्यंग्य एवं

विद्रूप-जनित हास्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है । प्राचीन काल के इतिहास से यह भी पता चलता है कि आदिकाल में मनुष्य किसी व्यक्ति की शारीरिक यन्त्रणा या पीड़ा को देखकर सबसे अधिक कौतुक का बोध करता था। किसी आहत व्यक्ति को पीड़ा से छटपटाते देखकर लोग ज़ोर से हँसते थे । इस प्रकार निष्ठुर हास्य-कौतुक के कितने ही दृष्टान्त इतिहास में पाए जाते हैं। जीव-जन्तुओं को कष्ट देकर आनन्द प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति तो बहुत-से लोगों में देखी जाती है ।

मनुष्य की दुर्गति भी अनेक समय में हमारे लिए कौतुकप्रद हो जाती है। कुबड़े वा काने मनुष्य को देखकर और किसी व्यक्ति को तुतलाते या अबोध-जैसी बातें करते देखकर हम हँस पड़ते हैं। पागल व्यक्ति के आचरण भी हमारे लिए हँसी की खुराक जुटाते हैं। कोई शौकीन व्यक्ति खूब सज-धजकर बाहर घूमने निकला । सड़क के फुटपाथ से होकर वह जा रहा है। अकस्मात् ऊपर से पान की पीक फेंक कर किसीने उसके स्वच्छ-सुन्दर वस्त्रों को खराब कर डाला। इस प्रकार की घटनाएँ भी हमारे लिए कम हास्यजनक नहीं होतीं। प्रचलित प्रथा एवं कार्य-कारण के सम्बन्ध मे अभाव देखकर, भाषा एवं व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों तथा बोलने, लिखने या छापे की भूलों को देखकर जो हम कौतुक का बोध करते हैं, इसका कारण है सामंजस्य-हीनता या विसदृशता ।

कुछ लोगों का अनुमान है कि हास्य-रस का जन्म हमारे मन की हिंस्र प्रवृत्ति से हुआ है। डारविन और हरबर्ट स्पेन्सर के मत से हास्य का दैहिक प्रकाश हिंस्र जन्तुओंके दन्त-विकाससे क्रमिक विवर्तन के फल-स्वरूप हुआ है। आचार्य फ्रायडके इस मतको भी हम आंशिक रूपमें मान ले सकते हैं कि हमारी असामाजिक हिंस्र प्रवृतियोंको अबाध रूपमें चरितार्थ होनेका मौक़ा नहीं मिलता और हमें निर्विचार उनका दमन करना पड़ता है, जिससे हास्य-कौतुक की सृष्टि होती है। मानव-मनकी इन आदिम पशु-प्रवृत्तियोंको यदि चरितार्थ होनेका सुयोग मिलता, तो अवश्य ही मनुष्यका वासस्थान यह पृथिवी रसातलको चली जाती। इसीलिए इनमें अनेक प्रवृत्तियोंका उन्नयन हो जाना है और उनसे हास्य-रसकी सृष्टि होती है। व्यंग्य-विद्रूपमें हमारे मनके इसी हिंस्र भावका आभास मिलता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी प्रकारके हास्य-

कौतुकमें मनुष्यकी पशु-प्रवृत्तिका ही परिचय मिलता है। बहुत-से निर्मल एवं निर्दोष हास्य-कौतुकमें पशु-प्रवृत्तिका अणुमात्र भी आभास नहीं पाया जाता। इस प्रकार का हास्य-रस जिस व्यक्तिमें जितना ही अधिक होगा, उसमें हिंस्र प्रवृत्ति उतनी ही कम होगी। विशुद्ध हास्य-कौतुक के प्रभाव से मनुष्यके मनकी पाशव प्रवृत्तियों का ह्रास भी अनेकांश में हो सकता है। किन्तु रसिक व्यक्तियों को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि उनका कौतुक पाठक या श्रोता-वर्गके लिए सहज ही बोधगम्य एवं चित्ताकर्षक हो। लेख या कथन में हास्यका जो सूक्ष्म आभास या इंगित होता है, वह यदि सहज ही बोधगम्य न हो, तो हास्य-रस उपभोग्य नहीं हो सकता।

मनुष्यके व्यावहारिक जीवन में जब हास्य की इतनी उपयोगिता है, तो साहित्य में हास्य-रस का स्थान क्यों नहीं होगा? आखिर साहित्य का उपादान भी तो मानव-जीवन और मानवमन ही है। मनुष्यको आनन्द देने के लिए, उसकी रसानुभूतिको जाग्रत करनेके लिए ही जब साहित्य की सृष्टि होती है तो फिर मनुष्य साहित्यके द्वारा यदि हँसनेकी चेष्टा करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसीलिए साहित्यका हास्य-रस कृत्रिम होनेपर भी अनेक समय हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। पहले राजाओं के दरबारों में हँसानेके लिए विदूषक या भाँड़ रहा करते थे। उनका कुछ स्थान आज साहित्यने और बाकी स्थान सिनेमा और थिएटर ने ग्रहण किया है। यह सच है कि साहित्य में जो हास्य-रस पाया जाता है, वह थोड़े-से शिक्षित लोगों के लिए ही उपभोग्य होता है, फिर भी समाज में उसका स्थान है, यह तो मानना ही पड़ेगा।

संसारकी सभी जातियोंके साहित्यमें हास्य-रसका अस्तित्व पाया जाता है। अंगरेज़ी-साहित्य में चासर, शेक्सपियर, डिकेन्स, शेलकर्क, वर्त्तमान समय के बर्नार्डशा तक सभी ने अपने साहित्य में हास्य-रसकी सृष्टि की है। स्पेनके साहित्यमें डानक्वइक्सट और अमरीकन साहित्यमें मार्क ट्वेन तो इस क्षेत्रमें अमर ही माने जाते हैं। प्राचीन संस्कृत, ग्रीक और लैटिन साहित्यमें हास्यरस-प्रधान रचना विरले ही पाई जाती है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि उस समय प्रत्येक मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल, शान्तिपूर्ण एवं आनन्दमय थी। उनके जीवनमें हास्यका अभाव नहीं था। इसीलिए साहित्य द्वारा कृत्रिम

हास्यरस-सृष्टिका उन्हें प्रयोजन नहीं था और हास्यरस-प्रधान साहित्यकी विशेष सृष्टि नहीं हुई। किन्तु आधुनिक कालकी जटिलताओंने हमारे जीवनको दुर्वह बना दिया है। प्राचीन कालका वह आनन्द-स्रोत आज सब के प्राणोंको सरसित नहीं करता। अतएव जिनके जीवनमें हास्य है, उनसे दूसरे लोग हास्यरस-सृष्टिकी आशा करते हैं।

प्राचीन साहित्यिकोंने, हास्य-रसका एक विशिष्ट स्थान है, इस बातको स्वीकार किया है। आलंकारिकोंने नवरसमें हास्यरसको भी स्थान दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने हास्य-रसके दैहिक स्वरूप पर भी विचार किया है और दन्त-विकासकी मात्राको लेकर हास्य-रसका श्रेणी-विभाग किया है। इस प्रकार हास्य-रसके ६ भेद किए गए हैं—अर्थात् स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। जिस हँसीमें दसन-पंक्ति दिखाई भी नहीं देती, वह स्मित है; कुछ-कुछ दाँत दिखाई पड़ें, वह हसित; शब्द के साथ दाँत दिखाई पड़नेसे विहसित ; हँसते समय नासिका का स्फुरित और नेत्रोंका कुंचित होना अवहसित; हँसते-हँसते आँखोंमें आँसू भर आना और रो पड़ना अपहसित; और हाथों से ताल देते हुए अंग-विक्षेपपूर्वक हँसना अतिहसित है।

लैटिन साहित्यमें होरेसकी विद्रूपात्मक रचनावलीकी काफी प्रसिद्धि है। प्लेटोके कथोपकथनमें भी एक प्रकारका श्लेष देखा जाता है, जिसे समालोचकोंने 'सुकरातका विद्रूप' (Socratic Irony) नाम दिया है। मध्य-युगके संस्कृत नाटकोंमें हास्य-रसका एक विशेष स्थान है। शेक्सपियरका हास्य-रसात्मक चरित्र फलस्टाफ भी काफी प्रसिद्ध है। हास्य-रसका स्थान यदि साहित्य में नहीं होता, तो अंगरेज आज डिकेन्स और थैकरे को लेकर इतना गर्व नहीं करते। रवीन्द्रनाथके हास्य-रसमें जो एक प्रकारका आभिजात्य एवं सूक्ष्म रसानुभूति पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'चिर कुमारसभा', 'वैकुण्ठका खाता', 'हास्य-कौतुक', 'व्यंग्य-कौतुक' आदि रचनाओंमें जो चुटकी पाई जाती है, वह बड़ी ही चमत्कारपूर्ण है। पर केवल थोड़े-से उच्च शिक्षित पाठक ही इसका उपभोग कर सकते हैं।

अंगरेजी में हास्य-रसके लिए साधारणतः ह्यूमर (humour) शब्दका व्यवहार किया जाता है। यह शब्द इतना व्यापक है कि इसके अन्दर हास्यके

विभिन्न रूपोंका समावेश हो जाता है। साहित्यमें चापल्य या fun, उपहास या jest या joke, परिहास या wit, विद्रूप या irony और sarcasm व्यंग्योक्ति एवं व्यंग्य या satire सब 'ह्यूमर'के अन्दर आ जाते हैं।

कौतुक या fun में बुद्धिका कोई चमत्कार नहीं होता, इसलिए यह बुद्धि-ग्राह्य नहीं होता। इसके अन्दर कोई छिपा हुआ उद्देश्य नहीं होनेसे इसमें अर्थ-गाम्भीर्य नहीं होता। अन्तर के आनन्द का स्वतःस्फूर्त्तप्रकाश इसमें हम पाते हैं। यह हमारे लिए अत्यन्त लघु एवं सरल हास्य-रसकी खुराक जुटाता है।

परिहास या wit केवल बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हो सकता है। इस प्रकार बुद्धिग्राह्य होनेपर ही इसकी रसानुभूति हमें हो सकती है। परिहास कोई शब्द-विशेष या शब्दों के समूहपर निर्भर करता है। किसी परिचित शब्दके अर्थ या भाव को इस प्रकार अपरिचित रूपमें रखना, जिससे आकस्मिक या अनपेक्षित भावकी अवतारणा हो, wit या परिहास कहा जाता है। श्लेष भी परिहासके अन्दर ही आ जाता है; किन्तु यदि उसमें दूसरेके ऊपर दोषारोपण करने या क्षति पहुँचानेका उद्देश्य हो, तो वह परिहास नहीं रह जायगा। सूरदासका 'निर्गुण कौन देसको बासी ? मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ॥' पद एक साथ ही चापल्य या fun और परिहास या wit का सुन्दर उदाहरण है। तुलसी का निम्न-लिखित कवित्त—

'बिंध्यके वासी उदासी तपोब्रतधारी महा, बिनु नारि दुखारे;
गौतम-तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनी, भे मुनि-बृन्द सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे;
कीन्हीं भली, रघुनायकजू, करुना करि काननको पगुधारे ॥' सुन्दर, सरल एवं शिष्ट हास्य-कौतुक का अनुपम दृष्टान्त है।

विद्रूप या irony और sarcasm तथा व्यंग्य या satire की साधारण विशेषता यह होती है कि इसमें जिस व्यक्ति, वस्तु या भाव को लेकर व्यंग्य-विद्रूप किया जाता है, उसे जनता की दृष्टिमें हीन या उपहासास्पद सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। क्षति या अनिष्ट-साधन का उद्देश्य भी इसमें हो सकता है। चापल्य, परिहास या उपहास में इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं होता।

किसी वाक्य का अर्थ या भाव प्रत्यक्ष रूपमें तो ठीक मालूम हो; किन्तु वक्ता या लेखक की वाङ्-भंगी या रचना-भंगी इस रूप में हो कि उसका अर्थ अप्रिय व्यंजित हो, तो उसे irony कहते हैं। irony शब्द के उपयुक्त कोई भाषा-शब्द नहीं होने से इसे विद्रूप कह सकते हैं ; किन्तु विद्रूप और irony सब समय एकार्थवाची नहीं होते।

मुख्य अर्थ या भाव की अपेक्षा उद्दिष्ट गौण अर्थ अधिक स्पष्ट होने से व्यंगोक्ति या sarcasm कहा जाता है। sarcasm या व्यंग्योक्ति विद्रूप (irony) की तरह बुद्धिग्राह्य नहीं होती। व्यंग्य या satire विद्रूप की तरह द्वयर्थक नहीं होता। इसमें अतिशयोक्ति की मात्रा हास्य-रस के और सब भेदों की अपेक्षा अधिक होती है और जिसका व्यंग्य किया जाता है, उस व्यक्ति, वस्तु या भाव को उपहासास्पद या क्षतिग्रस्त करने का उद्देश्य सहज ही समझ में आ जाता है। व्यंग्यमूलक रचना किसी व्यक्ति-विशेष या श्रेणी-विशेषको लेकर हो सकती है।

'ह्यूमर' और विद्रूप-व्यंग्य के बीच प्रधान भेद यह है कि जिस व्यक्ति या वस्तु को लेकर हम परिहास या उपहास करते हैं, उसके प्रति हमारी सहानुभूति होती है ; किन्तु व्यंग्य या विद्रूप में ऐसा नहीं होता। ह्यूमर' में दृष्टि व्यापक हो जाती है। जिस व्यक्ति का उपहास किया जाता है, उस की दोष-त्रुटियों की तीव्रता तथा उसकी हीनता-तुच्छता की ओर हमारा ध्यान विशेष नहीं जाता और इन सबसे परे उसके प्रति हमारे मन में सहानुभूति या अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अँगरेजी साहित्य में हास्य-प्रधान चरित्र का श्रेष्ठ उदाहरण है डिकेन्स का 'पिकविक'। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के हास्य-प्रधान चरित्र विरले ही पाये जाते हैं।

हिन्दी में हास्य-रस के साहित्य का अभी विकास नहीं हो पाया है। हास्य-रस के लेखकों की संख्या भी अभी इनी-गिनी ही है। स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भु शर्मा के नाम से 'शिवशम्भु के चिट्ठे' शीर्षक एक लेखमाला बहुत पहले लिखी थी। उसमें व्यंग्य एवं हास्य का अच्छा सम्मिश्रण हुआ है। स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र की भी कुछ हास्य-रसात्मक रचनाएँ पायी जाती हैं ; पर उन में कोई ऐसी विशेषता नहीं, जिसका उल्लेख किया जा सके।

'तृप्यन्ताम्' या 'हाय ? बुढ़पा तेरे मारे हम तो अब नकुयाय गयन' आदि रचनाओं में हास्यरस की विशदता बहुत कम ही देखी जाती है। आधुनिक लेखकों में सर्वप्रथम श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने हास्य-रस को विशेष रूप से अपनी रचनाओं का विषय बनाया। 'लम्बी दाढ़ी', 'विलायती उल्लू', 'लत-खोरी लाल' आदि उन की हास्य-रस विषयक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उनके उप-न्यास 'स्वामी चौखटानन्द' और नाटक 'मरदानी औरत' में भी हास्य-रस का काफी पुट पाया जाता है ; पर इन कृतियों में उच्च कोटि के 'ह्यूमर' या 'विट' का कोई चमत्कार नहीं पाया जाता। इन में हास्य का मुख्य आधार लेखक की प्रकाश-भंगी न होकर उनके पात्रों के अस्वाभाविक एवं बेढंगे कथन या आचरण हैं। हास्य-रस का बहुत स्थूल रूप श्रीवास्तवजी की रचनाओं में हमें मिलता है। फिर भी हिन्दी के इस क्षेत्र को पूर्ण करने में उन्होंने जो प्रारम्भिक प्रयत्न किये हैं, वे अवश्य प्रशंसनीय हैं। श्री अन्नपूर्णानन्द तथा पं० हरिशंकर शर्मा निस्सन्देह हास्य-रस के श्रेष्ठ लेखक माने जा सकते हैं। श्री अन्नपूर्णानन्द की 'महाकवि चच्चा', 'मंगलमोद', 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' आदि पुस्तकों में हास्य-रस का सुन्दर रूप में निदर्शन हुआ है। श्री हरिशंकर शर्मा की 'चिड़ियाघर' पुस्तक में उच्च कोटि के हास्य एवं व्यंग्य का चमत्कार हम पाते हैं। उनकी भाषा भी हास्य-रस के सर्वथा उपयुक्त होती है। उनका हास्य बड़ा शिष्ट होता है। श्री 'बेढब' बनारसी में भी हास्य रसात्मक साहित्य की सृष्टि करने की प्रतिभा है। उनकी भाषा में काफी चुहल है। लिखने का ढंग भी बहुत मनोरंजक एवं विनोदपूर्ण है। श्री गुलाबराय का 'ठलुआ-क्लब' भी शिष्ट हास्य का एक नमूना है। 'विशाल भारत' के भूतपूर्व संयुक्त-सम्पादक स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा भी हास्य-रस के एक प्रतिभाशाली लेखक थे। खेद है कि उनकी प्रतिभा का यथेष्ट विकास न होने पाया। हास्य का एक रूप parody या व्यंग्यरचना भी है। इसमें दूसरे की रचना का अनुकरण पद्यात्मक रूप में किया जाता है। इस प्रकार की रचनाओं के मूल में शुद्ध कौतुक या fun भी हो सकता है या परिहास अथवा व्यंग्य या wit या satire भी। सर्वश्री हरिशंकर शर्मा, कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' तथा 'मनो-रंजन' ने पैरोडी लिखी हैं। पर उनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें संयम से काम नहीं लिया गया है।

बँगला में स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सिवा 'परशुराम' और स्व० रवीन्द्रनाथ मैत्र ने हास्य-रसकी श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं। रवीन्द्रनाथ की 'चिरकुमार-सभा' और 'बैकुण्ठेर खाता' उच्चकोटि के गम्भीर हास्य की बहुत ही सुन्दर पुस्तकें हैं। 'परशुराम' की हास्य-रसात्मक रचना 'हनुमानेर स्वप्न' भी एक अनुपम कृति है। इनकी एक पुस्तक का अनुवाद 'भेड़ियाधसान' नाम से हिन्दी में हुआ है। स्व० रवीन्द्रनाथ मैत्र की हास्य-रस की रचनाएँ किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकती हैं। मन्द-मधुरस्मित हास्य का ऐसा श्रेष्ठ नमूना शायद ही और कहीं मिले। 'त्रिलोचन कविराज' नाम से उनकी एक पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

हिन्दी का हास्यरस-साहित्य अभी अन्यान्य सजीव भाषाओं की तुलना में साधारण ही कहा जायगा। उच्चकोटि की हास्य, व्यंग्य एवं विद्रूपमूलक रचनाएँ अभी बहुत कम पाई जाती हैं। सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्त्तन होने के साथ-साथ हास्य-रस में भी परिवर्त्तन हुआ है। पहले भी लोग स्थूल या अश्लील अशिष्ट हास्य से आनन्दोपभोग कर लिया करते थे; किन्तु साहित्य में उनका कोई स्थान नहीं था। शिक्षित भद्र-समाज के लिए अब इस प्रकार के हास्यरस-परिवेशन की आवश्यकता है, जो केवल शिष्ट ही न हो, बल्कि बुद्धिग्राह्य भी हो और साथ ही उसमें स्मित-हास्य की सूक्ष्म रसानुभूति भी। दुःख-दैन्य-दुर्दशा-ग्रस्त भारतवासियों के जीवन में शोक, विषाद एवं रुदन तो लगे ही हुए हैं। करुण-रसात्मक साहित्य की सृष्टि करके उनके शोक-विषादपूर्ण मन को और भी भाराक्रान्त क्यों बनाया जाय? समय-समय पर यदि हम कुछ हँस लिया करें, तो इससे जीवन-संग्राम में विजयी होने के लिए कुछ शक्ति-संचय तो अवश्य ही होगा। कारण, हास्य हमारे चित्त को उसकी स्वाभाविक नियन्त्रित गति से कुछ क्षणों के लिये मुक्त कर देता है, जिसके फल-स्वरूप हमारी जीवनी शक्ति को नूतन स्फूर्ति मिलती है। हँसी केवल मनको क्लान्ति को ही दूर नहीं करती, वरन देह की क्लान्ति को भी दूर करती है और शरीर को कार्यक्षम बनाती है। इस सम्बन्ध में डब्लू० जे० क्रोमी ने लिखा है:—

Laughing is an exercise which aids digestion. Laugh and grow fat. A merry heart doeth good

like a medicine. Laughing stirs up the abdominal organs and increasing the circulation of the blood it aids peristalsis and causes the flow of the juices etc., needed in digestion. Take a five minutes' dose of laughter after each meal.

अर्थात् हँसना एक ऐसी कसरत है, जो हमारा हाजमा सुधारती है। अगर मोटा होना हो, तो खूब हँसिए। प्रसन्न-चित्त औषध की तरह लाभदायक है। अतः भोजन के बाद प्रतिदिन थोड़ा-बहुत हँसना अत्यावश्यक है। इस प्रकार हास्य हमारे शरीर और मन दोनों के लिए एक नयामत है। एतदर्थ हास्य-रसात्मक साहित्य की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट होना अत्यावश्यक है।

ट्रेजिडी का स्वरूप-विश्लेषण

यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक आरिस्टाटिल ने अपने Poetics या काव्य-शास्त्र ग्रन्थ में काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—एक ट्रेजिडी अर्थात् दुःखान्त और दूसरा कामेडी या सुखान्त। महाकाव्य को उसने ट्रेजिडी के अन्तर्गत ही माना है। आरिस्टाटिल के अनुसार ट्रेजिडी की परिभाषा इस प्रकार है—"ट्रेजिडी एक सम्पूर्ण एवं गम्भीर घटना का अनुकरण है और इस घटना का एक विशेष आयतन होना चाहिये। यह अनुकरण अलंकृत भाषा में होता है। ट्रेजिडी के विभिन्न अंशों में यह अलंकरण भिन्न-भिन्न रूपों में होता है। ट्रेजिडी की कथावस्तु वर्णन का विषय नहीं, अभिनय का विषय है। यह करुणा एवं भीति का उद्रेक करके मानव मन को इस प्रकार के हृदयावेगों से मुक्त कर देती है।"

ट्रेजिडी के अन्दर महाकाव्य का समावेश होने पर भी दोनों में पर्याप्त पार्थक्य है। महाकाव्य में कल्पना का क्षेत्र व्यापक एवं विस्तृत होता है। उसकी प्रकाशभंगी वर्णनात्मक होती है। उसमें एक ही काल में अनुष्ठित अनेक घटनाओं को स्थान दिया जाता है। किन्तु ट्रेजिडी में ऐसा नहीं होता। ट्रेजिडी का घटनासूत्र अविच्छिन्न होना चाहिये, उसकी घटनाओं में एक घनिष्ट

कार्य-कारण संबंध होना चाहिये। महाकाव्य की घटनाओं में कार्य-कारण-योग आवश्यक नहीं होने से उसमें घटनाओं की विचित्रता एवं विपुलता के लिये स्वभावतः स्थान होता है। किसी आश्चर्यजनक घटना का महाकाव्य में समावेश होना जितना सहज और सम्भव है, उतना ट्रेजिडी में नहीं।

आरिस्टाटिल के मत से यह आवश्यक नहीं कि ट्रेजिडी मात्र दुःखान्त हो। उसका कथन है कि ट्रेजिडी का कथानक यदि गम्भीर हो और उसका नायक अज्ञानतवाश कोई भयानक कार्य करने जाकर आकस्मिक रूप में उस अज्ञानता के दूर हो जाने के फल-स्वरूप उस कार्य में बाधा प्राप्त हो, तथापि ट्रेजिडी की सृष्टि हो सकती है। यह भी हो सकता है कि नाटक का नायक अज्ञानतावश किसी भीषण या नृशंस कार्य का अनुष्ठान कर बैठता है और बाद में जब वह भयानक भूल को महसूस करता है, तो उसे अनुताप होता है; ऐसी स्थिति में भी ट्रेजिडी की सृष्टि होती है। किन्तु जिस ट्रेजिडी का नायक कोई अति भयानक शोचनीय काण्ड करने जा रहा हो और ठीक उसी क्षण अचानक बाधा प्राप्त होकर वह उक्त कर्म करने से रुक जाय, तो आरिस्टाटिल के मत से वह ट्रेजिडी उत्कृष्ट नहीं कही जायगी।

गल्प, चरित्र, भावावेश, कथन-शैली, सङ्गीत एवं साज-सज्जा, ट्रेजिडी के ये छः अङ्ग माने गये हैं। सङ्गीत एवं साज-सज्जा के प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी आरिस्टाटिल ने उन्हें नाटक का अपरिहार्य अङ्ग नहीं माना है। ट्रेजिडी के सर्वप्रधान अङ्ग—उसकी कथावस्तु या कथानक—को रूपायित करने के लिये, उसे रोचक बनाने के लिये विभिन्न चरित्रों की सृष्टि करनी पड़ती है। चरित्रों का विकास भावावेग एवं कथोपकथन की शैली द्वारा होता है।

गल्प का आयतन बहुत बड़ा नहीं होना चाहिये। उसका गठन सुसम्बद्ध हो और उसमें कोई ऐसी घटना नहीं हो, जिसे निकाल देने पर भी गल्प में अपूर्णता नहीं मालूम पड़े। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि कथानक का कोई भी अंश व्यर्थ नहीं होना चाहिये। ट्रेजिडी की कथावस्तु ऐसी हो, जिससे मन में करुणा एवं भय का उद्रेक हो। घटनाएँ कार्य-कारण सूत्र में आबद्ध हों और अप्रत्याशित हों। ट्रेजिडी का नायक महिमाशाली व्यक्ति होने पर भी असाधारण गुण-संपन्न नहीं होना चाहिये। जान-बूझकर किसी

पाप या दुष्कर्म का अनुष्ठान करके भी वह दुर्दशाग्रस्त नहीं होगा। स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताएँ उसमें भी होंगी। इस प्रकार की किसी स्वभाविक दुर्बलता के फलस्वरूप भ्रान्तिवश यदि ट्रेजिडी का महान नायक दुर्दशाग्रस्त होता है, जो वह ट्रेजिडी का उपयुक्त नायक कहा जा सकता है।

नाटक के कथानक को ट्रेजिडी में परिणत करने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें किसी दुर्घटना का आकस्मिक रूप में समावेश किया जाय। यह दुर्घटना जटिलताविहीन एवं दुःखमय होगी। दुःखजनक घटना को विशुद्ध ट्रेजिडी में परिणत करने के लिये यह आवश्यक है कि वह दुर्घटना आत्मीय-जनों या बन्धुओं में घटित हो। जब किसी व्यक्ति द्वारा अज्ञानरूप में या इच्छा नहीं रहते हुए भी कोई ऐसी घटना हो जाती है, जिसका परिणाम उसके किसी प्रियजन के लिये दारुण दुःखजनक होता है, तब जीवन में वास्तविक ट्रेजिडी का आविर्भाव होता है। ट्रेजिडी के लिये कथानक-निर्वाचन में इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। किन्तु साथ ही इसकी इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई घटना ऐसी नहीं हो, जो असम्भव-जैसी प्रतीत हो।

आरिस्टाटिल के मत से नाटक में प्रत्येक चरित्र का चित्रण इस रूप में होगा, जिससे इसके द्वारा एक विशेष व्यक्तित्व या type का निदर्शन हो। जिस श्रेणी का नायक होगा, उस श्रेणी के व्यक्ति की संपूर्ण विशिष्टताओं का उसके चरित्र-चित्रण में स्पष्ट प्रकाश होना चाहिये। कथोपकथन एवं आचरण प्रत्येक चरित्र को यथार्थ रूप में प्रकाशित कर सके।

कथोपकथन की शैली, उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिये, जिससे कि प्रत्येक चरित्र सम्यक् रूप में आत्मप्रकाश कर सके। हृदय की अनुभूतियाँ—भावावेग, आकुलता, भय, क्रोध, क्षोभ, करुणा को प्रकट करने में भाषा एवं रचना-शैली सहायक हो और साथ ही श्रोताओं को प्रभावित करके उसी प्रकार की भावना में रसमग्न कर दे। भाषा द्वारा रचना-कौशल की सहायता से ही नाटकीय चरित्रों के भावावेग को यथार्थ रूप में दिखाया जा सकता है। इसलिये नाटककार को नाट्यरचना की उपयुक्त रीति से परिचित होना चाहिये।

आरिस्टाटिल के मतानुसार काव्य का उद्देश्य आनन्ददान करना है। इस आनन्ददान के सिवा ट्रेजिडी का एक और उद्देश्य है। वह उद्देश्य है

हृदय को विकारमुक्त करना। "Tragedy and comedy contribute to the cleansing away of passions which cannot be altogether repressed, nor on the other hand be safely indulged, but need some moderate outlet. This they obtain at such dramatic performances, and so leave us untroubled for the rest of the time." अर्थात् हमारे मन की जिन सब प्रवृत्तियों का दमन करना सम्भव नहीं होता और जिनका चरितार्थ करना भी निरापद नहीं कहा जा सकता, और उन सब प्रवृत्तियों को संयत रूप में चरितार्थ करना भी आवश्यक है—ट्रेजिडी और कामेडी द्वारा मन की इन्हीं सब प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने में दर्शकों को सहायता मिलती है, जिससे उनका हृदय विकार-रहित हो जाता है और उनका जीवन प्रवृत्तियों के उत्पात से रक्षा पाता है।

मनोविकलन विज्ञान के आचार्य फ्रायड के मत से यह मत बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ललित कलाओं के सम्बन्ध में उसने भी लिखा है कि मानव मन की काम-प्रवृत्तियों का, उसकी अवदमित वासनाओं का जब उन्नयन (Sublimation) होता है, तभी उसका प्रकाश हम मानव संस्कृति के श्रेष्ठ अवदान काव्य, संगीत, चित्रकला आदि में पाते हैं। वासनाओं का बलपूर्वक दमन जहाँ नाना प्रकार के मानसिक रोगों की सृष्टि करता है, वहाँ उसका उन्नयन शिल्प-सृष्टि द्वारा मानव-संस्कृति को समृद्ध बनाता है।

ट्रेजिडी मात्र वियोगान्त या दुखान्त हो, ऐसी बात नहीं है। सुखान्त नाटक में ट्रेजिडी की सृष्टि हो सकती है। महाभारत की ट्रेजिडी कुरुकुल के सम्पूर्ण ध्वंस में उतना नहीं है, जितना उस ध्वंस के महाश्मशान पर पाण्डवों की राज्यप्रतिष्ठा में उनके अनुताप और महाप्रस्थान में।

ग्रीक नाटकों में जो ट्रेजिडी दिखाई गयी है, उसमें मनुष्य को किसी अदृश्य एवं अलंघ्य शक्ति के हाथ का खिलौना बनाया गया है। नियति देवता के हाथों मनुष्य यत्रंवत् परिचालित हो रहा है। उस अदृश्य शक्ति के सामने काल के अनन्त प्रवाह में मनुष्य का जीवन कितना तुच्छ है। मनुष्य का शौर्य, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, सब कुछ नियति के क्रूर अट्टहास के सामने

धूल की तरह उड़ जाता है। मनुष्य इस संसार में कितनी अभिलाषाओं को लेकर आता है, मन में कितनी उमंगें धारण करता है, किन्तु जैसा वह चाहता है, वैसा सब समय नहीं होता और कभी-कभी उसके अभीष्ट के सम्पूर्ण विपरीत घटना घटित हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य अपने भविष्य के सबंध में सम्पूर्ण निरुपाय एवं असहाय है। यही मानव जीवन की सबसे बड़ी पहेली है। मनुष्य की भाग्य-विडम्बना की यह चिर समस्या अभी तक ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। इसका समाधान कौन करेगा? जिस दिन इस समस्या का समाधान हो जायगा, उसी दिन मानव जीवन की समस्त ट्रेजिडी का भी अवसान हो जायगा।

मनुष्य का व्यक्तित्व एक ओर जहाँ अपने पौरुष एवं कर्तृत्व के बल पर अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना चाहता है, आत्मप्रकाश द्वारा अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर वास्तव जीवन में उसे पग-पग पर व्यर्थता का अनुभव करना पड़ता है। वास्तव जीवन की वास्तविकताओं के सामने मानो उसके जीवन का कोई मूल्य ही नहीं हो। जीवन की ट्रेजिडी का यहीं से आरम्भ होता है। मनुष्य के जीवन में सुख-दुख, आशा-निराशा का जो चक्र चलता रहता है, उसमें यदि किसी व्यावहारिक कार्य-कारण का सूत्र सन्निहित होता है, तो मनुष्य इस वेदना को अनिवार्य समझकर शान्त भाव से ग्रहण कर लेता है, और यह वेदना उसके जीवन में ट्रेजिडी की सृष्टि नहीं करती। किन्तु मनुष्य जब अपने जीवन के दुःख एवं नैराश्य के लिये, अपने पौरुष एवं कर्त्तव्य की व्यर्थता एवं शून्यता के लिये कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध ढूँढ़ नहीं पाता, अपने को किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में सर्वथा निःसहाय पाता है, उस समय उसके अन्तर में हाहाकार की वेदना अवश्य ही उसके जीवन में ट्रेजिडी की सृष्टि करती है।

ट्रेजिडी की वेदना का यदि हम विश्लेषण करें, तो हमें पता चलेगा कि सब प्रकार की ट्रेजिडी के मूल में एक द्वन्द्व लगा रहता है। बिना इस द्वन्द्व के ट्रेजिडी की सृष्टि हो ही नहीं सकती। यह द्वन्द्व किसी बाह्य घटना के आघात से ही उत्पन्न हो, यह बात नहीं है। बाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्जगत का द्वन्द्व ही प्रथम श्रेणी के नाटकों में विशेष रूप में दिखलाया जाता है।

वाह्य द्वन्द्व में व्यक्ति पुरुष का द्वन्द्व समाज-शक्ति के साथ दिखलाया जाता है। अर्थात मनुष्य का व्यक्ति पुरुष अबाध-रूप से स्वच्छन्द होकर अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करना चाहता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करने में उसे समाज-शक्ति के साथ संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष चाहे किसी अदृश्य शक्ति के साथ हो—जिसकी कल्पना ग्रीक ट्रेजिडी में अन्धनियति या दैव-कोप में की गयी है या समाज-शक्ति अथवा वास्तव जगत के साथ, किन्तु सब प्रकार की ट्रेजिडी का मूल उत्स इस संघर्ष में ही होता है। यह संघर्ष पाप-पुण्य में ही हो, यह बात नहीं है; कभी-कभी पुण्य-पुण्य में भी होता है। एक ओर परिवार के प्रति स्नेह एवं ममताजनित कर्त्तव्य-बन्धन और दूसरी ओर देश के स्वार्थ के लिये परिवार के प्रति समस्त स्नेह एवं ममता का बलिदान! मनुष्य के अन्तर में उसकी प्रकृतिगत विभिन्नताओं का जो द्वन्द्व होता है, वह द्वन्द्व भी उसके जीवन में ट्रेजिडी की सृष्टि करता है। शेक्स-पियर ने अपने दुःखान्त नाटकों में इसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व दिखलाकर ट्रेजिडी की सृष्टि की है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण मनुष्य का हृदय-सागर मथित होकर वेदनाप्लुत हो उठता है। उसकी अन्तर्ज्वाला से मनुष्य अत्यन्त उद्विग्न एवं अशान्त बन जाता है। चित्त संशय एवं द्विधा के कारण विभ्रांत हो उठता है। कभी-कभी तो अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप चित्त की यह अशान्ति इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्य इस ज्वाला से परित्राण पाने के लिये मृत्यु के शीतल क्रोड़ में विश्राम लेना चाहता है। हैमलेट नाटक में अन्तर्द्वन्द्व की इस ज्वालामयी वेदना का परिणाम बड़े ही ज्वलन्त रूप में दिखलाया गया है। मानसिक अशान्ति से मुक्ति पाने के लिये हैमलेट को मृत्यु की शरण लेनी पड़ती है। किंग लियर नाटक में दो पुण्यकर्तव्य के बीच जो द्वन्द्व दिखलाया गया है, उससे ही ट्रेजिडी की सृष्टि हुई है। कारडिलिया का प्रेम अपने वृद्ध पिता के प्रति अन्य बहिनों की अपेक्षा कम नहीं। किन्तु साथ ही इसके, वह जानती थी कि वह अपने हृदय के समस्त प्रेमभाव को अपने पिता के प्रति समर्पित नहीं कर सकती। कारण अपने पति के प्रति भी उसे अपने प्रेम-भाव को चरितार्थ करना है। इसलिये कारडिलिया अपने पिता को उतना ही प्यार कर सकती है, जितना एक पुत्री के लिये पिता को प्यार करना उचित है।

मनुष्य की व्यक्तिसत्ता की स्वच्छंद गति में समाज-शक्ति द्वारा बाधा पहुँचने पर अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि होती है और उस अन्तर्द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप जीवन दुःखान्त बन जाता है। इसका परिचय हमें इब्सन के नाटकों में मिलता है। उसके "A Doll's House" नाटक की नायिका नोरा के मन में जो द्वन्द्व उत्पन्न होता है, उसका कारण एक ओर उसका गम्भीर प्रेम और दूसरी ओर उसका स्वाभिमानपूर्ण व्यक्तित्व है। अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करने के लिये ही नोरा पति-पुत्र का परित्याग करके उन्मुक्त जीवन को वाञ्छनीय समझकर ग्रहण करती है। उसकी घर-गृहस्थी उसके लिये अब "खिलौना-घर" के सिवा और कुछ नहीं रह जाती, और इस खिलौना-घर के मोह से मुक्त होने में ही उसे व्यक्ति जीवन के आत्मप्रकाश का आनन्द दिखायी पड़ता है। जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भी हम ट्रेजिडी की वेदना का अत्यन्त सूक्ष्म रूप पाते हैं। टाल्सस्टाय के सुप्रसिद्ध उपन्यास "अन्ना करेनीना" में अन्ना के जीवन में जो अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया गया है, यही उसके जीवन में ट्रेजिडी की सृष्टि करता है। एक ओर अन्ना के जीवन में प्रेम की तृष्णा उसके दार्शनिक-प्रकृति पति द्वारा तृप्त नहीं हो पाती, जिससे वह परपुरुष से प्रेम करती है, और दूसरी ओर अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य-भाव। उसका पुत्र उसके प्रथम पति के पास ही रह जाता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की चरितार्थता और दूसरी ओर जननी-हृदय का वात्सल्य—इस अन्तर्द्वन्द्व की ज्वाला अन्ना के लिये इतनी असह्य हो उठती है कि अन्त में वह आत्महत्या करके चिरशान्ति प्राप्त करती है।

ट्रेजिडी का वेदनाबोध हमारे मन को व्यथित करता है अवश्य, किन्तु फिर भी वह इस रूप में परिणत होकर हमारे मन को आनन्दमुग्ध कर देता है। क्यों ? इसलिये कि आनन्द का मूल सुर विरह-वेदना में ही निहित होता है। संपूर्ण सृष्टि के मूल में यह विरह-वेदना ही परिव्याप्त हो रही है। यही कारण है कि सभी देशों के श्रेष्ठ महाकाव्यों में विरह-वेदना की ही प्रधानता देखी जाती है। रामायण महाकाव्य के मध्य में जहाँ हम उसके नायक श्रीराम को ऐश्वर्य एवं प्रताप की गौरव-गरिमा से उद्दीप्त पाते हैं, वहीं यौवन के मध्याह्न काल में कवि ने राम-वनवास और सीता-हरण के प्रसंग का समावेश करके इसको अत्यन्त सघन कर दिया है। इस वनवास-काल में ही राम के

व्यक्तित्व का चरम विकास हमें दिखायी पड़ता है। वन में तापस का जीवन व्यतीत करते हुये राम के चरित्र-चित्रण में शील, शक्ति एवं सौन्दर्य की जो करुण मधुर झाँकी दिखलायी गयी है, उससे यह काव्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी हो उठा है। मनुष्य के व्यक्तित्व का, उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का परिपूर्ण विकास हमें तभी दिखाई देता है, जब वह दुःखों, कठिनाइयों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ संग्राम करते हुये आत्म-प्रकाश करने की चेष्टा करता है! प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ संग्राम करने में ही मनुष्य की गौरव-गरिमा, उसके व्यक्तित्व की महिमा प्रस्फुटित हो उठती है, और इसी कारण से हमें ट्रेजिडी जितनी प्रिय लगती है, उतनी कामेडी नहीं।

एक बात और है। लौकिक दुःख की अपेक्षा ट्रेजिडी का दुःख हमारे मन पर विशेष रूप में प्रभाव डालता है। लौकिक जीवन में भी हमें दुःख, शोक, एवं विषाद का प्रायः अनुभव होता ही रहता है। किन्तु यह अनुभव हमारे मन पर चिरकाल के लिये छायापात नहीं करता और न कोई छाप ही अंकित करता है। किन्तु काव्य या नाटक की नायक-नायिका के जीवन के दुःख-विषाद को पढ़कर या देखकर हम जो वेदना-बोध पाते हैं, उससे हमारा मन भाराक्रांत हो उठता है, चिरकाल के लिये उसकी छाप हमारे मन पर अंकित हो जाती है। इसका कारण यह है कि काव्य या नाटक के नायक-नायिका के जीवन का दुःख आकस्मिक न होकर नाटक की घटनाओं एवं चरित्रों के घात-प्रतिघात से उत्पन्न होता है। उसमें पूर्वापर सामञ्जस्य होता है, जिससे वह हमारे मन को तीव्र भाव से मथित करने पर भी उसे दुःख के स्थूल रूप का बोध नहीं होने देता। ट्रेजिडी का यह दुःख निरर्थक या उद्देश्यहीन नहीं होता। इसके अन्तर में कोई महान उद्देश्य अवश्य छिपा रहता है। यह दुःख-भाव व्यञ्जक होता है। ट्रेजिडी की मृत्यु, जीवन की शून्यता की व्यञ्जना न करके जीवन के किसी महान् उद्देश्य या भाव की व्यञ्जना करती है। जयशंकर 'प्रसाद' के 'आजातशत्रु' नाटक में अन्तिम दृश्य में बिम्बसार की जो मृत्यु उसके पाँव लड़खड़ाने के रूप में दिखलायी गयी है, वह मृत्यु जीवन के अभाव की व्यञ्जना न करके एक साथ ही मानव जीवन के कितने निगूढ़ भावों की व्यञ्जना करती है। यहाँ नाटककार ने दुःखान्त नाटक को सुखान्त में परिणत

करके भी अपूर्व कौशल के साथ जीवन की ट्रेजिडी की जो सार्थकता दिखलायी है, उससे नाटक का रस अत्यन्त सघन होकर रसञ्जन के लिये परम आस्वादनीय बन गया है। मानव जीवन की इस ट्रेजिडी की चरम परिणति चाहे मृत्यु में हो या अन्तर्द्वन्द्व की ज्वाला से अशान्त जीवन धारण करने में, किन्तु इसकी यह सार्थकता जब साहित्य द्वारा रूपायित हो उठती है, तब साहित्य में रसघन ट्रेजिडी की सृष्टि होती है और वह चिरकाल के लिये उपभोग्य बन जाती है।

कविता और विप्लववाद

कविता के प्रति विप्लववादियों का क्या मनोभाव होना चाहिए और उनके लिये कविता का कोई मूल्य है या नहीं, यह प्रश्न केवल विप्लववादियों द्वारा ही नहीं, बल्कि आधुनिक युग के कुछ तरुण कवियों द्वारा भी उठाया जा रहा है। इन कवियों की धारणा कुछ ऐसी हो रही है कि आज की कविता का जनता के साथ वास्तविक सम्पर्क नहीं रह गया है। वास्तविक कार्य और भाव-विलास में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस कविता का सामाजिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं हो, वह विप्लववादियों के लिये अर्थहीन है। विप्लवी तो सामाजिक मूल्य की कसौटी पर ही कविता का विचार कर सकता है। जिस समय देश में करोड़ों मनुष्य अन्नवस्त्रहीन अज्ञानावस्था में जीवन व्यतीत कर रहे हों; वर्तमान सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था के फलस्वरूप बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन शोषित, लाँछित एवं अपमानित हो रहे हों : देश जिस समय स्वाधीनता-संग्राम में निरत हो, उस समय कवि कला की मायापुरी में बैठकर कविता-कुसुम का सुकुमार माल्य गूँथा करें, इससे तो कहीं अच्छा है कि वे कोई ठोस व्यावहारिक कार्य में अपने को संलग्न करें।

इस प्रकार की धारणा प्रत्यक्ष रूप में सत्य प्रतीत होने पर भी निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। इसके पीछे सत्य की अपेक्षा भावुकता ही विशेष रूप में काम कर रही है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिये कि कुछ लोगों के लिये कविता लिखना ही उनका स्वभाविक कार्य है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उनका यही पेशा है। जिस प्रकार देश के लिये संकट-काल

उपस्थित होने पर भी दूसरे पेशे के लोग—जैसे किसान या वैज्ञानिक अनुसन्धान-कारी अपने-अपने काम में लगे रहते हैं, और अपना पेशा छोड़कर युद्ध-क्षेत्र में नहीं दौड़ पड़ते, उसी प्रकार कवि को भी हम पेंशेवर क्यों न समझें। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि किसान, कारीगर, या विज्ञान की गवेषणा करने-वाले जो कार्य करते हैं, उनका सम्बन्ध समाज से है। वे समाज-जीवन के अंग-स्वरूप हैं। उनके विना समाज-शरीर का संचालन हो ही नहीं सकता; किंतु कविता के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। कविता लिखना एक प्रकार का व्यक्तिगत विलास है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष के निजी जीवन से है। किंतु यह युक्ति भी भावुकता-जनित है और इतिहास द्वारा इसका समर्थन नहीं होता।

आज से पचास साल पहले तक मानवीय भावनाओं एवं मानव-हृदय की गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये कविता ही सर्वोत्तम साधन समझी जाती थी। जिस समय समाज के ऊपर कविता का प्रभाव क्षीण होने लगा, उस समय भी कविता के प्रति जनसाधारण के मन में श्रद्धा-भाव बना ही हुआ था। इससे पहले सैकड़ों वर्ष तक मनुष्य ने कविता द्वारा ही वास्तव को जाना था और समाज को सत्य का साधन मिला था। उस समय कवि ही समाज के मुखपात्र समझे जाते थे, व्यक्ति एवं समष्टि के रूप में मनुष्य के जो भाव एवं अनुभूतियाँ हुआ करती थीं, उनका व्यक्तीकरण कवि-कण्ठ द्वारा ही हुआ करता था। कविता के इस ऐतिहासिक महत्व को विप्लववादी किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं कर सकते। अतीत काल में समाज की भावना से उसकी आशा-आकांक्षा एवं सुख-दुःख कविता द्वारा ही व्यक्त हुआ करते थे। प्रकृति के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध रहस्य के अन्तराल में छिपा हुआ है, विज्ञान उसका उद्घाटन जिस प्रकार बुद्धि की सहायता लेकर करता है, उसी प्रकार कविता भाव की सहायता लेकर मनोविज्ञान द्वारा हम अपने उद्देश्य को जान पाते हैं और अपनी कर्म-प्रणाली पर विचार कर सकते हैं। कविता हमारी अनुभव शक्ति एवं अनुभूति के क्षेत्र को प्रसारित करती है। जिस भाव को हम सहस्र पंक्तियों में नहीं ग्रहण कर पाते, वही भाव एक छोटी-सी कविता में हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

इसपर विप्लववादी कहेंगे कि किसी समय में कविता का समाज-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान अवश्य था, उस समय कवि समाज के मुखपात्र थे और उनका स्थान सम्मानपूर्ण था; किंतु इस समय तो कोई कविता नहीं पढ़ता। फिर कवि के भाव यदि यथार्थ भी हों, तो वह उन्हें जनसाधारण तक नहीं पहुँचा सकता। कवि चाहे जो कुछ अंट-संट लिख सकता है, उसकी कविता का कोई सामाजिक मूल्य नहीं होता। वह जो कुछ लिखता है, अपने अहंभाव को चरितार्थ करने के लिये, समाज के लिये नहीं।

आज की कविता यदि अस्पष्ट एवं दुरुह हो रही है, तो इसका बहुत-कुछ कारण यह है कि कवि पहले के समान लोकप्रिय नहीं रह गये हैं। पचास साल पहले तक लोग मानसिक आमोद के लिये कविता पढ़ा करते थे। कविता-पाठ में उन्हें आनन्द मिलता था। किंतु आजकल समाचार-पत्र, साप्ताहिक और मासिक पत्रिका, गल्प और उपन्यास और इन सबसे भी बढ़कर सिनेमा और रेडियो मनोरंजन के साधन बन गये हैं। अधिकांश मनुष्य कालिदास या शेक्सपियर की कविता पढ़ने की अपेक्षा चित्रपट में ग्रेटा गार्बो, देविका रानी, या स्नेहप्रभा को देखना पसन्द करते हैं। जनता के इस उदासीन भाव को देखकर कवि भी जनसाधारण की रुचि का खयाल रखकर कविता नहीं लिखते। कवि मुट्ठी भर के लिये ही लिखा करते हैं, जो पाठक उनकी कविता को समझेंगे और उनका समादर करेंगे। यही कारण है कि एक क्षुद्र सीमा के बाहर कवि की रचनाओं का आज कोई अर्थ नहीं रह गया है।

अति आधुनिक काल के कुछ कवियों ने अपनी कविता को क्षुद्र परिधि से बाहर निकालकर सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है और कर रहे हैं। इसके लिये वे कविता को सरल एवं सुबोध बना रहे हैं जिससे कविता पहले के समान लोकप्रिय बन जाय। किंतु उनका यह प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक समाज में युगान्तकारी परिवर्तन न हो जाय। बहुत-से कलाकार आज इस बात को हृदयगंम करने लगे हैं कि उनकी कविता का प्रभाव तब तक व्यापक नहीं हो सकता, जब तक समाज में श्रेणि-भेद वर्त्तमान है।

विप्लववादी की यह युक्ति ठीक नहीं कही जा सकती कि कवि के भाव

यथार्थ होने पर भी वह उन्हें जन-साधारण तक नहीं पहुँचा सकता। दृष्टान्त के लिये सिगफ्रिड सैसून (Siegfried Sasoon) की कविता लीजिये। गत महायुद्ध-काल में उन्होंने Counter Attack (प्रत्याक्रमण) नामक एक कविता लिखी थी। इस कविता में उन्होंने युद्ध के प्रति व्यंगात्मक भाव प्रकट किये थे। इसका प्रभाव युद्ध में भाग लेनेवाले तत्कालीन बुद्धिजीवियों पर विशेष रूप से पड़ा था। इस कविता को पढ़कर बहुत-से लोगों के मन में युद्ध के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गयी थी, और उन्होंने युद्ध-विरोधी आन्दोलन आरम्भ किया था।

दूसरी बात यह है कि कविता द्वारा जितना प्रचार कार्य किया जा सकता है, उतना गल्प द्वारा नहीं। कारण, अधिकारी समझते हैं कि कविता का प्रभाव समाज पर पहले जैसा नहीं रहा है। इसलिये कविता में जो कुछ लिखा जाता है, उसकी वे उपेक्षा कर देते हैं; किन्तु कविता में जो भाव प्रकट किये जाते हैं, वही भाव यदि गल्प में प्रकट किये जायँ, तो पुस्तक का प्रचार बन्द कर दिया जायगा।

आधुनिक काल के कितने ही तरुण कवियों ने साम्यवादी दृष्टिकोण को लेकर कविता लिखना आरम्भ किया है। उनकी कविताओं का मध्यम श्रेणी पर—विशेषतः छात्र-सम्प्रदाय पर—प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। बहुत-से युवक इन कविताओं को पढ़कर ही मार्क्सपन्थी बन गये हैं और मार्क्स की पुस्तकों का नियमित रूप में अध्ययन शुरू कर दिया है। साम्यवादी कविताओं ने अनेक युवकों के मनोभाव में युगान्तकारी परिवर्तन कर दिया है और मार्क्सवाद का प्रकृत स्वरूप उनके सामने उपस्थित कर दिया है।

कविता पढ़कर कोई विप्लववादी हो सकता है या नहीं, यह दूसरी बात है; किन्तु बहुत-से ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनमें कविता ने विप्लववादी के लिये उस मार्ग पर चलने के लिये प्रथम सोपान का काम किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक प्रकार की साहित्यिक भाव-प्रवणता से बचना होगा जिसके अनुसार विप्लववादी दृष्टिकोण से लिखी गयी कविता कविता नहीं। इस प्रकार की भावुकता से समालोचक को मुक्त होना होगा। कविता के सम्बन्ध में पहली बात यह देखनी होगी कि वह प्रकृत कविता हुई है या नहीं।

किसी कारीगर ने यदि किसी मकान को खराब तरीके से बनाया है, तो हम उसे इसलिये पसन्द नहीं कर लेंगे कि उसका बनानेवाला साम्यवादी विचार रखता है। इसी प्रकार कविता का विचार लेखक के राजनीतिक या सामाजिक मतामत को कसौटी बनाकर नहीं किया जा सकता। अमुक व्यक्ति कम्युनिस्ट है, इसलिये वह जो कुछ लिखेगा, वही कविता होगी, इसका कोई अर्थ नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि किसी प्रतिक्रियागामी बुर्जुआ द्वारा लिखी गयी कविता विप्लववादी के लिये विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है, जिस प्रकार इलियट की "Waste Land" कविता। प्रत्येक अच्छी कविता का मूल्य अवश्य होता है, क्योंकि इसके द्वारा हमें एक लघु या वृहत् जन-समूह की भावनाओं एवं अनुभूतियों का परिचय मिलता है। दूसरी बात यह है कि हम यह किस प्रकार आशा कर सकते हैं कि विप्लववाद का कवि विप्लव छोड़कर और कुछ नहीं लिखेगा। विप्लववादी किसी के प्रेम में पड़कर प्रणय की कविता भी लिख सकता है तथा प्राकृतिक दृश्यों पर मुग्ध होकर उनका वर्णन भी अपनी कविताओं में कर सकता है। उसकी कविताओं में उसके व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद की प्रतिध्वनि भी हो सकती है। तीसरी बात यह है कि विप्लववादी दृष्टिकोण से लिखी गयी कविता के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें यह भूलना नहीं होगा कि कविता और नारा (Slogan) या प्रचार-पुस्तिकाओं में यथेष्ट अन्तर है। प्रचार के लिये लिखी गयी पुस्तिकाओं से या नारे लगाने से हम जिस प्रकार के परिणाम की आशा करते हैं, उस प्रकार के परिणाम की आशा हम विप्लवी कविता से नहीं कर सकते। कविता का प्रभाव व्यक्ति द्वारा जनता तक पहुँचता है। राजनीतिक भाषण या नारे का प्रभाव जनता से व्यक्ति तक होता है। किसी सुकवि की कविता हमारे अन्तस्तल में प्रवेश करके हमारे मनको स्पर्श करती है; हमारे प्राणों को स्पन्दित कर देती है। और वह कविता यदि विप्लवी कवि द्वारा लिखी गयी है, तो हमारी भावनाओं पर उसका युगान्तकारी प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से कविता प्रोपेगेण्डा न होने पर भी प्रचार-कार्य का उत्तम साधन बन सकती है।

विप्लवी कविता का अर्थ यह नही है कि उसमें केवल 'लाल' शब्द

का व्यवहार किया जाय अथवा हँसिया या हथौड़े की चर्चा रहे। विप्लवी कविता का एकमात्र विषय श्रेणी-संघर्ष नहीं होगा। विप्लवी कवि यदि मार्क्स के भावों को अच्छी तरह समझ सकें, मार्क्स की नीति को अपने जीवन में कार्यान्वित कर सकें, तो बस इतने से ही उनकी कविता प्रकृत विप्लववादी कविता होगी, और यदि ऐसा नहीं हुआ, तो आप लाल झण्डे के नाम पर कितने ही नारे लगायें, आपकी कविता वही पुराने ढंग की बुर्जुआ कविता बनी रहेगी। जो कवि अपने को विप्लववादी कहते हैं, उनके प्रति हमारा मनोभाव सौहार्दपूर्ण होना चाहिये। समालोचक की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से हम उनके काव्य की समालोचना करें। समालोचना करते समय हम इस प्रकार की धारणा को अपने मन से हटा दें कि कवि बुर्जुआ श्रेणी का है या श्रमिक श्रेणी का। समालोचना का विषय कवि का काव्य होना चाहिये स्वयं कवि नहीं। समालोचना करते समय यही देखना होगा कि कविता प्रकृत कविता हुई या नहीं। यह केवल भाव-प्रवण या गतानुगतिक तो नहीं है। कविता कवि की आत्मा होती है। उसमें उसकी गम्भीर अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये कवि की कृतियों की समालोचना ही कवि की भी समालोचना हो जाती है। सच्चा कवि या कलाकार अपने कार्य में इतना तल्लीन रहता है कि वह अपनी परिस्थिति या आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में प्रायः सचेतन नहीं रहता। क्षुधा-दुर्दशा एवं नग्न दारिद्र्य उसके जीवन पर उतना प्रभाव नहीं डालते, जितना साधारण कर्मी के जीवन पर। लखपती पूँजीपति भी विप्लव के समान ही उसकी सहानुभूति प्राप्त कर सकते हैं।

कवि-मात्र यह चाहता है कि लोग उसकी कृतियों को समझें और अधिक-से-अधिक मनुष्य उसकी अनुभूतियों के साथ परिचित हों। उसकी कविता थोड़े-से भाव-विलासी साहित्यामोदियों के मनोरंजन की सामग्री बनकर न रहे। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी देखता है कि वर्त्तमान श्रेणी-भेद-युक्त समाज-व्यवस्था उसे किसी एक श्रेणी-विशेष के साथ सम्बद्ध करके रखती है, जिससे सर्वसाधारण के साथ उसका सम्पर्क होने नहीं पाता। वह इस बात को महसूस करता है कि कला का मूलगत

सम्बन्ध जीवन के साथ नहीं होने से उसकी वही स्थिति होती है, जो स्थिति शीशे के घर में रखे हुये पौधे की या प्रयोगशाला के नमूने की होती है। स्पेण्डर ने अपनी " "The Destructive Element" पुस्तक में दिखलाया है कि हिटलर ने जो सहज ही जर्मनी के साहित्यिकों एवं कलाकारों को—जिन्होंने National Socialism (राष्ट्रीय समाजवाद) को ग्रहण नहीं किया—स्वदेश निर्वासित कर दिया इसका कारण यह था कि इन सब कलाकारों की कृतियों के साथ जनता के जीवन का योगसूत्र विच्छिन्न हो गया था। यदि वह योगसूत्र कायम रहता, तो व्यक्तिगत रूप में लेखकों को निर्वासित कर देने पर भी उनकी संस्कृति, उनकी परम्परा और उनके भाव कायम रह जाते और जनता का जीवन उनके द्वारा न्यूनाधिक रूप में अवश्य अनुप्राणित होता रहता।

एक से दूसरे तक भावों को पहुँचाने के लिये वाहन-रूप में यदि कविता को जीवित रहना है तो कविता को हमारे जीवन के लिये अनिवार्य बनना पड़ेगा। शहर में काम करनेवाले श्रमजीवियों के लिये जिस प्रकार छुट्टी का दिन आवश्यक है, उसी प्रकार कविता भी हमारे जीवन के लिये आवश्यक बने। उन श्रमजीवियों के भावुक जीवन के लिये जिस प्रकार छुट्टी की प्रयोजनीयता है, उसी प्रकार मानसिक विनोद के लिये भी कविता की प्रयोजनीयता है। किन्तु कविता केवल मनोरंजन की ही सामग्री नहीं है, वह हमारे भाव-जीवन का आनन्दोच्छ्वास भी है। कवि शब्द-शिल्पी होता है; कहाँ किस शब्द का किस रूप में प्रयोग होना चाहिये, यह वह आश्चर्यजनक रूप से जानता है। नगर के लोग छुट्टी के दिनों में शहर छोड़कर देहात की ओर दौड़ पड़ते हैं। इसका कारण क्या है? आप भले ही इसे "पलायन" कहें; किन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि मनुष्य लाखों वर्ष तक प्रकृति के साहचर्य में रहा—शान्त, स्तब्ध, निर्जनता में उस शान्त निर्जन प्रकृति का आह्वान आज भी उसके कानों में सुनाई पड़ता है। यह आह्वान उसके मज्जागत है। निर्जन प्रकृति के क्रोड़ में उसे अपने प्राणों का सन्धान जीवन का उत्स मिलता है। कविता के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इसमें भी हमें अपने प्राणों का सन्धान मिलता है।

आदिम युग में शताब्दियों तक मनुष्य के आर्थिक जीवन का सम्बन्ध

कविता के साथ रहा। शिकार, प्राकृतिक दुर्घटना—भूकम्प, आँधी, ग्रहण, विकट शीतकाल का भय—अन्नोत्पादन-सम्बन्धी आशा-निराशा, वसन्तकालीन उर्व्वरता आदि की कहानी आदिम मनुष्य नृत्य एवं छन्दों में व्यक्त किया करते थे। इससे उनके मन के भावावेगों को मुक्ति मिली और यह मुक्ति ही उनके लिये आनन्दोच्छ्वास हुई। आदिम जीवन के साथ कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस समय भी हम साधारण कृषकों को कविता की भाषा का व्यवहार करते पाते हैं। भूख और सर्दी से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्य के भावावेश आज भी उतने ही तीव्र हैं, जितने आज से दस हजार वर्ष पूर्व। हाँ, इतना फर्क अवश्य हुआ है कि आज की आर्थिक परिस्थिति जटिलतर हो जाने के कारण वे भाव भी जटिलतर हो गये हैं; किन्तु भाव-जीवन के साथ कविता का जो सम्बन्ध पहले था, वह आज भी बना हुआ है। आदिम युग में कविता एक मुख्य साधन थी, जिसके द्वारा आदिम मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करके अपनी आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध संग्राम करने में शक्ति प्राप्त करता था। इसलिये कविता का सम्बन्ध हमारे भाव-जीवन के साथ अविच्छेद्य रूप में है, और यह जिस प्रकार हमारे पूर्व-पुरुषों के लिये आवश्यक थी, उसी प्रकार हमारे लिये भी है।

आज सभ्यता का वास विशेष रूप से नगरों में है। यह बहुत सम्भव है कि भावी युग की सभ्यता अधिकाधिक रूप में नागरिक होती जाय। जिस प्रकार १९वीं शताब्दी में पूँजीपति-श्रेणी के उत्थान ने एक नूतन श्रमिक श्रेणी को जन्म दिया, जो अन्ततः अपने स्रष्टा का ही अन्त कर डालने पर तुल पड़ी, उसी प्रकार नागरिक सभ्यता की नूतन आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप एक नूतन श्रेणी के नागरिक कवि उत्पन्न होंगे जो एक नूतन भावधारा को अपनी कविता में रूप प्रदान करेंगे। श्रमिक श्रेणी के कवि के आगमन के लिये रंगमंच तैयार हो रहा है। यह सच है कि हाल में बुर्जुआ श्रेणी के कवि नगर-जीवन को लेकर कविता लिखने लगे हैं; किन्तु नगर में रहकर भी वे नगर-जीवन के बाहर से कविता लिख रहे हैं; इसलिये उसमें नगर के वास्तविक जीवन का सुर प्रस्फुटित नहीं होता। उनकी कविता से यह प्रतीत होता है कि वे इस नूतन जीवन की वास्तविकताओं से पलायन करना चाहते हैं।

यद्यपि उनमें से किसी-किसी की इस जीवन के साथ सहानुभूति भी होती है और वे इसकी शक्तियों से परिचित भी होते हैं, तथापि समाज-व्यवस्था जैसी है, उसमें उन्हें इस नूतन जीवन के साथ घनिष्ठ रूप में परिचय प्राप्त करने का सुयोग नहीं मिलता। इंगलैण्ड में प्रोलिटेरियट कविता-जैसी कोई वस्तु नहीं है। हाँ, अमेरिका के बहुत-से तरुण कवि साम्यवादी कविता लिखने लगे हैं; किन्तु उनमें प्रथम श्रेणी की कविता विरल ही पायी जाती है।

श्रमिक कवि के लिये अनेक असुविधाएँ हैं। पहली बात तो यह है कि उसे एक विजातीय परम्परा के आधार पर लिखना होगा। सैकड़ों वर्षों से बुर्जुआ परम्परा के ऊपर कविता का विकास होता आया है। जब तक इस श्रेणी के प्रभुत्व का अन्त नहीं होता, तब तक कवि को इस परम्परा का ही यथासम्भव उत्तम रूप में उपयोग करना पड़ेगा! सामाजिक ढाँचों से पृथक् स्वतन्त्र रूप में किसी परम्परा की सृष्टि नहीं की जा सकती। समाज में क्रान्ति होने पर भी हम यह आशा नहीं कर सकते कि शीघ्र ही नये ढंग के लेखक उत्पन्न हो जायेंगे। इसके लिये हमें अनेक दिनों तक अपेक्षा करनी होगी। सहसा किसी परम्परा की सृष्टि नहीं होती। सैकड़ों वर्ष इसकी सृष्टि में लग जाते हैं।—किसी जाति के जीवन के साथ बहुत दिनों का सम्बन्ध। विभिन्न युगों में इस संस्कृति में रूपान्तर होता रहता है। दूसरी बात यह है कि काव्य-सम्बन्धी संस्कृति एवं कविता की विषय-वस्तु एक दूसरे पर निर्भरशील रहती है। कर्मी कवि को इस समय ऐसी संस्कृति को लेकर लिखना पड़ता है, जिसका निर्माण ऐसे उपादानों से नहीं हुआ है, जिन उपादानों का वह अपनी कविताओं में समावेश करना चाहता है। उसकी विषय-वस्तु सर्वथा नूतन होती है। जिस सामाजिक परिस्थिति के अन्दर उसे विवश होकर रहना पड़ता है, उससे वह असन्तुष्ट है। अपने समाज की सुख-दुःख की कहानी वह व्यक्त करना चाहता है; किन्तु उसकी इस नूतन विषय-वस्तु के साथ काव्यिक संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये अपने भावों को यथार्थ रूप में अभिव्यंजित करना उसके लिये सहज नहीं होता—यद्यपि बुर्जुआ कवि का विषय-वस्तु-ज्ञान एवं अनुभूति उसके समान तीव्र नहीं होती।

कला का सम्बन्ध मनुष्य के भाव-जगत् से होता है, इसलिये स्वभावतः

उसमें क्रान्तिकारिणी शक्ति सन्निहित रहती है। धनिक सभ्यता अपने स्वार्थ के लिये श्रमिकों को मूक बनाकर रखती है। जिस प्रकार आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में वह श्रमिकों को उच्छिष्ट देकर सन्तुष्ट रखती है, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी। किन्तु विप्लवी वातावरण में धनिक सभ्यता ज्यों-ज्यों ढुलमुल होती जा रही है, त्यों-त्यों श्रमिकों को भुलाये रखने के लिये कला के नाम पर उनमें मिथ्या का प्रचार हो रहा है। कविता, समाचारपत्र, गल्प, उपन्यास, चित्रपट आदि के द्वारा धनिकवर्ग श्रमिकों को दबाकर रखना चाहता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वास्तविक कला का उनके भाव-जगत् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मिथ्या साहित्य द्वारा वे इस प्रकार अभिनिवेशित कर दिये गये हैं कि उनके लिये प्राणपण एवं विप्लवी साहित्य द्वारा अनुप्राणित होना कठिन हो रहा है। इसलिये श्रमिक कवि बुर्जुआ कवि के समान अपनी रचनाओं द्वारा थोड़े-से श्रमिकों पर ही प्रभाव डाल सकता है।

किन्तु विप्लवी कवि के लिये निराश होने का कोई कारण नहीं है। यदि उसकी कविता वास्तविक कविता होगी, तो उसका प्रभाव एक सौ शिक्षा-संस्थानों की अपेक्षा कहीं अधिक होगा। एक सजीव शक्ति के रूप में वह कला का सृजन करेगा। कवि यदि विप्लववादी होगा, तो उसकी कविता में भी वह शक्ति अवश्य होगी। कविता को वह एक ऐसी रहस्यात्मक वस्तु न समझे, जिसके रहस्यों की कुंजी केवल मध्यवित्त श्रेणी के शिक्षितों के हाथ में रहती है। श्रमिक कवि के लिये एक बड़ा सुयोग यह है कि वह श्रमजीवियों के बीच में रहता है। वह प्रत्यक्ष रूप से उस जगत् को देख सकता है और उसका अनुभव कर सकता है, जो अब तक कविताओं के लिये सर्वथा अस्पृश्य रहा है। श्रमिकों तक अपने भावों को प्रेषित करने और उनके निमित्त कविता लिखने के लिये उसे बुर्जुआ कवि के समान नूतन भाषा नहीं सीखनी होगी। उसे तो केवल अपनी भाषा को—श्रमिकों की भाषा को—कविता का माध्यम बनाना है। अतएव श्रमिकों के लिये कविता की रचना उसके लिये अन्य श्रेणी के कवियों की अपेक्षा सहज साध्य है।*

*Day Lewis के एक लेख के आधार पर।

साहित्य और विज्ञान

सृष्टि के वैचित्र्य को, उसके विविध दृश्यों, पदार्थों एवं घटनाओं को सब लोग देखा करते हैं। किन्तु देखने की इस क्रिया में बहुत कुछ तारतम्य पाया जाता है। एक वैज्ञानिक जिस दृष्टि से संसार के पदार्थों को, एक नीतिज्ञ या दार्शनिक अथवा ऐतिहासिक जिस दृष्टि से संसार में घटित होनेवाली नित्य-प्रति की घटनाओं को देखता है, कवि की दृष्टि-भंगी उन सबसे भिन्न होती है। साधारण मनुष्यों की दृष्टि में जो वस्तु बहुत ही सामान्य एवं सौन्दर्य-विहीन प्रतीत होती है, साहित्यकार की दृष्टि में वही सुशोभन बन जाती है। साहित्यकार की इस दृष्टि को प्रज्ञा दृष्टि कहते हैं। अपनी इस प्रज्ञादृष्टि से ही वह किसी वस्तु के अप्रकाशित सौन्दर्य को सहज ही हृदयङ्गम करके प्रकाश में ला देता है और तब हम उसकी रमणीयता एवं मधुरता पर मुग्ध हो जाते हैं। जहाँ हमें असम्पूर्णता, कुरूपता, नग्नता एवं जघन्यता दिखाई पड़ती है, वहाँ भी कलाकार की सुन्दरता का आभास मिलता है। उसकी दृष्टि वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की ओर ही विशेष रूप में रहती है। उसकी दृष्टि में नटराज का प्रलय नृत्य भी उतना ही सुन्दर है जितना मुरलीधर का विश्व-विमोहन रास-नृत्य। वसन्त की शोभा-श्री एवं शरद की सुषमा उसके मन-प्राण को उतनी ही पुलकित करती है जितना शिशिर एवं हेमन्त का तुषार-पात। इस दृष्टि को लेकर जगत् की वस्तुओं को देखने के कारण ही शिल्पी को सर्वत्र रस-सृष्टि की प्रेरणा मिलती है और इस प्रेरणा में उसे आनन्द की उपलब्धि होती है। परिदृश्यमान् वस्तु जगत् के साथ अन्तर के मनोजगत् का समन्वय स्थापित होने पर ही रूप के माध्यम से अरूप की अभिव्यक्ति की प्रेरणा मानव-मन में उत्पन्न होती है और तब शिल्पकला की सृष्टि संभव होती है। दृश्यमान् जगत् एवं आध्यात्मिक जगत् में विरोध होने पर शिल्प-कला की सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिये ही शिल्पी रस-दृष्टि लेकर जगत् के यावतीय पदार्थों को देखता है और उनमें रसानन्द की उपलब्धि करता है। साहित्य, शिल्प, संगीत आदि में मानव-मन की श्रेष्ठ वासना का ही प्रकाश आनन्द के रूप में उच्छलित हो पड़ता है। अन्तर का यह आनन्द या रसोपलब्धि

ही काव्य एवं संगीत के सुर और छुन्द में, नृत्यकला के छुन्द, लय और ताल में तथा चित्रकला के रंग और रेखा में मूर्त्त हो उठती है। उपभोग्य वस्तु को परिस्थिति से संपूर्ण विच्छिन्न करके उसकी पारिपार्श्विकता को कुछ समय के लिये भूलकर एक-मात्र रस-दृष्टि से जब शिल्पी जगत् की ओर देखता है तब उसके मन-प्राण क्षण-भर के लिये रस-सागर में निमज्जित हो जाते हैं और वह एक अपूर्व तृप्ति का बोध करता है। इस प्रकार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु या दृश्य को एक अपूर्व श्री-माधुरी से मण्डित करके देखने पर कवि की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, उसकी अनुभूति विशाल एवं व्यक्तित्व उदार बन जाता है। असुन्दर को सुन्दर के रूप में, अनुपभोग्य को उपभोग्य के रूप में और अवज्ञेय को श्रद्धेय के रूप में देखने की दिव्य दृष्टि उसे प्राप्त होती है। सौन्दर्य-बोध द्वारा उसके अन्तर में जिस अपार्थिव सत्ता की अनुभूति जाग्रत होती है, उससे यह विचित्र संसार उसके प्राणों की तंत्री में प्रतिक्षण आनन्द का सुर झंकृत करता रहता है। उसे अपने चतुर्दिक की नित्यप्रति की छोटी-बड़ी घटनाओं में उसी अपार्थिव सत्ता की अनुभूति का आभास मिलता है। प्रतिक्षण प्रत्येक मनुष्य या प्रत्येक घटना एक अपूर्व सुषमा, एक अपूर्व माधुरी लेकर उसके समक्ष उद्भासित होती है। इस अदृश्य महिमा को, मेटरलिंक की भाषा में Invisible goodness देखने की दुर्लभ दृष्टि असाधारण प्रतिभाशाली शिल्पी को ही प्राप्त होती है। मनुष्य के चरित्र की गरिमा, उसके मनुष्यत्व की मर्यादा इस दृष्टि से देखने पर ही यथार्थ रूप में हृदयङ्गम की जा सकती है और उसके अन्तर के प्रच्छन्न सौन्दर्य को, उसके चिरनिर्मल रूप को उपलब्ध किया जा सकता है।

वैज्ञानिक भी एक असाधारण दृष्टि लेकर संसार की वस्तुओं को देखता है। इस दृष्टि से देखने पर वह भी किसी एक वस्तु में ऐसी अनेक बातों को देख सकता है, अनेक रहस्यों पर प्रकाश डालकर उनका उद्घाटन कर सकता है, जिनका आभास साधारण जन को नहीं मिलता। किन्तु वैज्ञानिक की इस दृष्टि में हमें उसकी किसी विशेष दृष्टि-शक्ति का परिचय नहीं मिलता। इस दृष्टि के साथ उसके अन्तर का कोई संयोग नहीं होता। अन्तर के प्रच्छन्न सौन्दर्य की अदृश्य महिमा को दृष्टिगत करने के लिये अनुभूति की वह विशा-

लता एवं कल्पना की वह उदारता इस दृष्टि में नहीं होती जो शिल्पी की दुर्लभ दृष्टि में होती है। वैज्ञानिक जिन अदृश्य एवं अज्ञात रहस्यों का उद्घाटन करता है, उनपर प्रकाश डालता है, इसके लिये उसे यंत्रों की सहायता लेनी पड़ती है—दिव्य दृष्टि की नहीं। माइक्रोस्कोप, टेलिस्कोप या इसी प्रकार के अन्य सूक्ष्म यंत्रों की सहायता से दृष्टि जहाँ तक प्रसारित हो सकती है, वहाँ तक किसी वस्तु के वाह्य रूप-रंग, आकार-प्रकार को लेकर परीक्षा-समीक्षा की जा सकती है, उनके अंग-प्रत्यङ्ग का, उनके स्वरूप का विश्लेषण किया जा सकता है; किन्तु इस सीमाबद्ध दृष्टि को लेकर वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बाहर के परिदृश्यमान् जगत् के साथ अन्तर के आध्यात्मिक जगत् का समन्वय स्थापित होने पर ही रूप के माध्यम द्वारा साहित्य एवं शिल्प की सृष्टि होती है। सौन्दर्य-बोध द्वारा उद्भावित अपार्थिव सत्ता की अनुभूति ही शिल्प-कला का चरम उद्देश्य माना गया है। साहित्य एवं शिल्प का संबंध मनुष्य के मनोजगत् से होता है। मनुष्य के अन्तर में जो द्वन्द्व, भावोच्छ्वास एवं घटनाओं के घात-प्रतिघात होते रहते हैं; उनका ही प्रकाश हमें साहित्य में मिलता है। दूसरी ओर विज्ञान का संबंध मनुष्य के वाह्य जगत् से होता है। विज्ञान वस्तु के वाह्य स्वरूप को ही देखता है और उसका विश्लेषण करता है। वाह्य जगत् जिन नियमों के आधार पर परिचालित हो रहा है, उनको जानने के लिये वैज्ञानिकों के जो अनुसंधान चलते रहते हैं, उनके ही फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में नित नूतन आविष्कार हो रहे हैं। सीमाबद्ध दृष्टि लेकर वैज्ञानिक वस्तु के सीमित रूप को ही देख सकता है। उस सीमित रूप से परे वस्तु की जो एक स्वतंत्र सत्ता है, उस स्वतंत्र सत्ता का बोध केवल वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं हो सकता। रमणी के सौन्दर्य में जो मोहकता है, जो कमनीयता है, उसकी अभिव्यक्ति एक कवि अथवा शिल्पी जिस रूप में कर सकता है, उस रूप में क्या कोई वैज्ञानिक थोड़े ही कर सकता है? रमणी-देह के एक-एक अवयव को लेकर उसके उपादानों का विश्लेषण करने अथवा उसकी क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता का उपदेश देने से उसके सौन्दर्य को बोधगम्य नहीं किया जा सकता। एक वैज्ञानिक की दृष्टि में इन्द्र-

धनुष के रूप और रंग की जो वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है, उससे उसके चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का अनुभव नहीं हो सकता। वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा हम फूल की पंखुड़ी, पराग, उसकी जाति, रंग आदि का स्वरूप-ज्ञान कर सकते हैं; किन्तु इन सबसे पृथक् फूल का जो सौन्दर्य है और जो रसिक मन के लिये उपभोग्य है, उसका आविष्कार तो शिल्पी का मन ही कर सकता है। इस दृश्यमान् जगत् की सीमा को अतिक्रमण करके, अपने चित्त को इस पार्थिव जगत् के सुख-दुख, पाप-ताप, अभाव-अभियोग से बहुत ऊपर उठाकर शिल्पी की दृष्टि जब एक असीम एवं अनन्त की ओर प्रधावित होती है, उस समय वह सब कुछ भूलकर एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत् में पहुँच जाता है जहाँ उसका अस्तित्व उपभोग्य वस्तु में विलीन हो जाता है। इस अतीन्द्रिय जगत् का रहस्योद्घाटन जब तक विज्ञान द्वारा स्पष्ट रूप में नहीं होता तब तक विज्ञानी एवं शिल्पी की दृष्टिभंगियों में अन्तर बना ही रहेगा। दूसरे शब्दों में मन जब तक चिर रहस्यमय बना रहेगा, मन के अन्तराल में जो सब क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ होती रहती हैं, उनके रहस्यों पर जब तक विज्ञान द्वारा सम्यक् रूप में प्रकाश नहीं पड़ता तब तक साहित्य में भी एक प्रकार की रहस्यमयता या अतीन्द्रियता बनी ही रहेगी। आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान मन की इस रहस्यमयता पर, मनुष्य के अवचेतन में होनेवाली गोपन लीलाओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहा है अवश्य, किन्तु समग्र सत्य की उपलब्धि वह जब तक नहीं कर पाता तब तक तो एक आंशिक सत्य के रूप में ही उसे ग्रहण किया जा सकता है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य के साथ विज्ञान का सामञ्जस्य कभी हो ही नहीं सकता, अथवा साहित्य वैज्ञानिक तथ्यों की सर्वथा उपेक्षा करके चलेगा। समष्टिरूप में एक फूल के सौन्दर्य में जो सत्य निहित है, वही सत्य उसके उपादानों में भी है। वैज्ञानिक ने फूल के स्वरूप का विश्लेषण करके जो तथ्य प्रकाशित किये हैं, उन तथ्यों को भी साहित्यिक स्वीकार करेगा और रस-दृष्टि लेकर जब वह उनपर विचार करेगा तो उसे उनमें भी वही सौन्दर्य अनुभूत होगा जो सौन्दर्य फूल के समष्टि रूप में। यहाँ भी शिल्पी रसानन्द की सृष्टि करके उन्हें पूर्ण रूप से उपभोग्य बना देगा। अब तक साहित्य ने विज्ञान की उपेक्षा की थी, वैज्ञानिकों ने सत्य की अवहेलना की थी। किन्तु

आज का साहित्य निष्पक्ष भाव से वैज्ञानिक तथ्यों पर विचार करता है और उन्हें ग्रहण भी करता है। यही कारण है कि अति आधुनिक साहित्य में मनः समोक्षा विज्ञान (साइको एनलिसिस) और विज्ञानसम्मत समाजवाद के सिद्धांतों को विशेष रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। फ्राइड ने मनुष्य के समस्त संबंधों का आधार उसकी यौन-प्रवृत्ति (Sexuality) सिद्ध किया है ; अर्थात मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप एवं उसकी प्रचेष्टाओं के मूल में यह यौन-प्रवृत्ति ही काम कर रही है। साहित्यिक मानव-जोवन में यौन-प्रवृत्ति की प्रधानता को तो स्वीकार करेगा, किन्तु इसे एकमात्र सत्य के रूप में ग्रहण नहीं करेगा। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो स्नेह एवं प्रेम का संबंध होता है, मनुष्य में निष्काम भाव से कर्म करने, त्याग एवं परोपकार करने ; पर-हित के लिये आत्मोत्सर्ग एवं जीवन-दान करने की जो प्रवृत्ति देखी जाती है, उसके मूल में एकमात्र उसकी यौन-वासना ही काम कर रही है और अपनी इस वासना को उच्चतर रूप में चरितार्थ करने के लिये ही वह इस प्रकार के महत् कार्य करता है इसे एकान्त सत्य के रूप में वह ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार मानव-समाज के गठन एवं विकास में उसके भौतिक जीवन का जो महत्वपूर्ण स्थान है, मनुष्य-मनुष्य के बीच लौकिक संबंध में आर्थिक संबंध की जो प्रधानता है, उसे एक नीति के रूप में साहित्यिक अवश्य स्वीकार करेगा ; किन्तु सब प्रकार के मानव-संबंधों में उसके परस्पर के प्रेम-स्नेह एवं स्वार्थ-त्यागमूलक व्यवहारों में वह इस आर्थिक संबंध को ही चरितार्थ होते नहीं देखेगा। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि साहित्य विज्ञान की तरह केवल प्रयोगमूलक नहीं रह सकता। साहित्य का मूल उत्स जब तक मानव-हृदय बना रहेगा, मानव-मन की कल्पना, अनुभूति एवं भावनाओं के लिये जब तक उसमें स्थान बना रहेगा तब तक वह एकमात्र वस्तु को केन्द्र करके नहीं चल सकता। विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि अब तक वह मन के संपूर्ण गोपन रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ नहीं हुआ है। मन अब भी उसके लिये रहस्यपूर्ण बना हुआ है। ऐसी स्थिति में मन के साथ जब तक साहित्य का कारबार चलता रहेगा तब तक उसमें रहस्यमयता के लिये भी स्थान बना ही रहेगा। किंतु मन की यह रहस्यमयता साहित्यिक की चेतना को

उसके अन्तर्जगत् तक ही सीमाबद्ध नहीं रखेगी। अन्तर्जगत् के साथ-साथ वह बहिर्जगत् के अस्तित्व को भी स्वीकार करेगा। जीवन का परिपूर्ण रूप में आस्वादन करने के लिये वाह्य जगत् की भी उपलब्धि करनी होगी और अन्तर्जगत् के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करना होगा। अन्तर्जगत एवं बहिर्जगत् के बीच कोई अलंघनीय प्राचीर नहीं है। वाह्य जगत् के किसी दृश्य का अवलोकन करते समय शिल्पी उसके भाव-सौंदर्य में जब संपूर्ण तन्मय हो जाता है या अपने अन्तर की गंभीर अनुभूति के साथ जब एकात्म हो जाता है तभी श्रेष्ठ कला की सृष्टि संभव होती है। उस समय उसका मन एक अतीन्द्रिय अनुभूति से भर जाता है और एक अनन्त एवं अज्ञेय की ओर उसके मन की संपूर्ण वृत्ति प्रधावित होने लगती है। इस इन्द्रियातीत को पञ्चेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता। इसकी उपलब्धि के लिये चर्मचक्षु नहीं, मर्मचक्षु उन्मीलित होने चाहिए।

जो लोग साहित्य को विज्ञान की कसौटी पर कसकर उसे वस्तुकेन्द्रिक रूप में देखना चाहते हैं, उन्हें जान रखना चाहिए कि आधुनिकतम विज्ञान भी वस्तु-सत्ता के संबंध में संपूर्ण सचेतन नहीं रह गया है। आधुनिक काल के जिन्स, एडिंगटन प्रभृति बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया है कि विज्ञान अब तक चरम सत्य का आविष्कार नहीं कर पाया है। सर आलिवर लाज के विचार से तो मनुष्य अभी सभ्यता के प्रथम स्तर पर ही है। वैज्ञानिक के ज्ञान के उर्ध्व एक और जगत् है जिसकी मनुष्य उपेक्षा नहीं कर सकता। वह जगत् है सौन्दर्य-जगत्, और इस सौन्दर्य-जगत् के साथ ही साहित्य एवं कला का संबंध विशेष रूप में होता है। इसलिये जीवन में विज्ञान एवं कला दोनों की प्रयोजनीयता है और इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ह्वाइटहिड के मत से आर्ट केवल विश्राम ही प्रदान नहीं करता, बल्कि मनुष्य को आत्मोपलब्धि Self attainment में भी सहायता पहुँचाता है। विज्ञान और आर्ट दोनों ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समाज के मंगल के लिये हैं। विज्ञान की यात्रा भी अनन्त एवं अज्ञेय की ओर ही चल रही है। वैज्ञानिक ज्यों-ज्यों अपनी इस यात्रा में प्रगतिशील होते जायँगे त्यों-त्यों वे भी उसी गंभीर सत्य की ओर पहुँचते जायँगे जिस सत्य की उपलब्धि कवि एवं शिल्पी

अपने अन्तर्जगत् में प्रज्ञा दृष्टि द्वारा करता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक साहित्य में विज्ञान और प्रज्ञा दृष्टि दोनों के लिये स्थान बना रहेगा। साहित्य का सार्वजनीन रूप, उसका विराटत्व, उसका चिरंतन स्वरूप, देश-काल निरवच्छिन्न उसका रसनिवेदन ही इस बात का परिचायक है कि वह केवल वस्तुकेन्द्रिक अथवा देहसर्वस्व बनकर नहीं रह सकता। इससे उसका रस-निवेदन क्षुण्ण हो सकता है, उसके विराटत्व में व्याघात पहुँच सकता है। विज्ञान जब तक प्रयोगमूलक बना रहेगा तब तक साहित्य में रहस्यमयता के लिये भी स्थान रहेगा और इन दोनों के अस्तित्व से साहित्य की व्यापकता खर्व न होकर उसकी श्री-वृद्धि ही होगी।

उपन्यास का भविष्य

आधुनिक युग में साहित्य के विभिन्न अंगों में उपन्यास की जितनी लोक-प्रियता देखी जाती है, उतनी किसी दूसरे अंग की नहीं। सभी श्रेणी के पाठकों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। उपन्यास में नूतन-नूतन घटनाओं का समावेश होने से वह सहज ही पाठकों के मन में कौतूहल जागरित करता है और उनकी कल्पना, चिन्ता एवं भावना को उद्दीप्त करता है। एक समय ऐसा था जब कि उपन्यासों में वर्णित घटना-वैचित्र्य और उसके चमत्कारपूर्ण वर्णन से ही पाठकों को मुग्ध करने की चेष्टा की जाती थी। घटनाओं के जाल के अन्तराल में जो रहस्यमयता छिपी हुई रहती थी, उसका क्रमिक रूप में उद्घाटन ही पाठकों के लिये अत्यन्त रोचक एवं आमोदजनक हुआ करता था। उपन्यास की इस धारा में इस समय यद्यपि बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है, फिर भी एक श्रेणी के आज भी ऐसे पाठक मौजूद हैं जो गंभीर समस्यामूलक उपन्यासों की अपेक्षा साधारण जासूसी उपन्यासों को पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। काम करते-करते जब मन क्लांत हो जाता है, उस समय अवकाश का समय व्यतीत करने के लिये वे ऐसे उपन्यासों को पढ़ना पसन्द करते हैं जिनसे उन्हें 'थ्रिल' मिले, आनन्द प्राप्त हो और कुछ समय के लिये वे वास्तव जीवन की विषमताओं को भूल जायँ। यही कारण है कि आज भी गंभीर उपन्यासों के

पाठकों को संख्या की अपेक्षा ऐडवेंचर या डिटेक्टिव उपन्यासों के पाठकों की संख्या कहीं ज्यादा होती है। शरीर और मन की क्लान्ति एवं अवसाद को दूर करने के लिये घटनाओं की विचित्रता में सब कुछ को भूल बैठने और थोड़े समय के लिये अपने को परिस्थिति की विषमताओं से मुक्त समझने की प्रवृत्ति सहज ही पाठकों को इस प्रकार के उपन्यासों की ओर आकर्षित करती है। कानन डायल या एडगर वैलेस के जासूसी तथा कौतूहलोद्दीपक उत्तेजना पूर्ण घटना-विशिष्ट उपन्यासों की जो लोकप्रियता इतनी बढ़ी हुई है, इसका कारण यही है। इतना ही नहीं बल्कि इस प्रकार के उपन्यासों को पढ़ने से पाठक एक प्रकार की तृप्ति एवं प्रसन्नता का बोध करते हैं और उन्हें एक नूतन शक्ति एवं स्फूर्ति-जैसी प्राप्त होती है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी क्षमता बढ़ गयी है। साधारण जीवन में मनुष्य को पग-पग पर अपनी क्षमता को कुण्ठित करके चलना पड़ता है; इसलिये स्वभावतः ही पाठकों के लिये इस प्रकार के उपन्यासों का आकर्षण बहुत ज्यादा होता है। जिस समय उपन्यास का जन्म हुआ था, उस समय मनुष्य का जीवन अत्यन्त सरल था। उसके समाज-जीवन एवं राष्ट्र-जीवन में आज की तरह जटिलताओं का समावेश नहीं हुआ था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुनिश्चित आदर्श थे जिनको ग्रहण करके मनुष्य चलता था। धर्मशास्त्र एवं समाज के गुरुजनों के शासन में चलते रहने तथा बिना किसी संशय या द्विधा के उनके आदेशों का पालन करते रहने के कारण मनुष्य के मन में राष्ट्र अथवा समाज को लेकर कदाचित ही समस्याएँ उपस्थित हुआ करती थीं। इसलिये उस युग की कथाओं में मानवचरित्र की वे जटिलताएँ, वे गुत्थियाँ, वे उलझनें, नहीं मिलतीं जो आज के कथासाहित्य में मिलती हैं। सहज, सरल मानव-चरित्र को लेकर ही उपन्यास के कथानक की सृष्टि होती थी और उसके नायक आदर्शवीर, आदर्श धर्मनिष्ठ या आदर्श प्रेमिक हुआ करते थे। लेखक का उद्देश्य होता था नायक के चरित्र की महत्ता, उसके व्यक्तित्व की महिमा का प्रचार करना और पाठकों के मन में नायक के प्रति श्रद्धायुक्त विस्मय का भाव उत्पन्न करना।

ऐतिहासिक विवर्तन के फलस्वरूप समाज-जीवन में जो परिवर्तन हुए, उनके कारण समाज, राष्ट्र एवं धर्म के सम्बन्ध में मनुष्य के मन में पहले जैसी आदर्श-

निष्ठा नहीं रह गयी। व्यक्तिस्वातंत्र्य की प्रधानता होने के साथ-साथ मनुष्य स्वाधीन बुद्धि लेकर समाज, राष्ट्र एवं धर्म की समस्याओं पर विचार करने लगा। प्राचीन आदर्शों के प्रति उसके मन में अब आस्था नहीं रह गयी। प्रत्येक विषय के सत्यासत्य का निर्णय वह अब अपने विवेक की कसौटी पर करने लगा। श्रद्धा का स्थान तर्कयुक्त बुद्धि ने ग्रहण किया, जिससे स्वभावतः मनुष्य संशयालु एवं सन्दिग्धचित्त बन गया। उपन्यास में इस प्रकार के चरित्र की विशेषता हुई उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र स्वच्छन्द विकास। इन चरित्रों में न तो कोई आदर्शवादिता रह गयी और न किसी प्रकार का असाधारणत्व। अपने चरित्र की गौरवगरिमा एवं व्यक्तित्व की महानता एवं महिमा से ये अब पाठकों के मन को श्रद्धाजनित विस्मय से अभिभूत नहीं करने लगे। सामान्य होने पर भी इनके चरित्र में अब पहले जैसी सरलता नहीं रह गयी। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होने लगे। संसार के विभिन्न देशों के बीच आवागमन के साधनों की सुविधा होने से विचार का आदान-प्रदान धड़ल्ले से होने लगा। विभिन्न सभ्यता एवं संस्कृतियों के मेल तथा संघात से मनुष्य के प्राचीन संस्कार एवं विश्वासों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। मनुष्य की चिन्ता, उसकी कल्पना, उसकी विचार-बुद्धि, उसकी दृष्टिभंगी क्षण-क्षण में बदलने लगी। इस प्रकार के परिवर्तन के युग में जिन चरित्रों की सृष्टि होने लगी है, वे सामान्य होने पर भी हमारे लिये संपूर्ण परिचित नहीं होते। इनके चरित्र की जटिलताएँ हमारे लिये पहेली बन जाती हैं। परिचित होकर भी हमारे लिये ये अपरिचित-जैसे बने रहते हैं। मानव चरित्र की इस जटिलता एवं गूढ़ रहस्यमयता के कारण ही आज के उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता पायी जाती है। घटनाप्रधान उपन्यासों के बदले अब चरित्रप्रधान उपन्यासों की रचना होने लगी है। आधुनिक उपन्यासों की एक विशेषता है किसी अत्यंत साधारण घटना को लेकर रहस्यपूर्ण चरित्रों की सृष्टि करना और उन चरित्रों के अन्तश्चेतन का सूक्ष्म विश्लेषण कर के रहस्यों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करना। आज के उपन्यास लेखक हमारे सामने साधारण चरित्रों को उपस्थित कर के हमें यह दिखाना चाहता है कि जिन व्यक्तियों को

हम अपने अत्यन्त सन्निकट एवं घनिष्ट रूप में परिचित समझते हैं उनके चरित्र भी हमारे लिये किसी न किसी अंश में अपरिचित ही बने रहते हैं। उनके चरित्रों में जो जटिलतायें होती हैं उन जटिलताओं से अवगत नहीं होने के कारण अपने इन परिचित चरित्रों को समझने में भी हम भूल कर सकते हैं। इसलिये आज के उपन्यासों में अद्भुत चरित्रवाले नरनारियों की सृष्टि न होकर साधारण चरित्रवाले नर-नारियों की ही सृष्टि होती है, किन्तु उपन्यासकार जब अपनी अन्तर्भेदी दृष्टि द्वारा उनके चेतन एवं अवचेतन मन के एक-एक स्तर का विश्लेषण करने लगता है उस समय मानव चरित्र की जटिलता एवं गोपन रहस्यमयता को देखकर हम आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहते। वर्तमान युग के उपन्यासों में इसी प्रकार के स्वाभाविक चरित्रों का चित्रण किया जाता है और चरित्रों का यह क्रमविकास ही संपूर्ण उपन्यास में अत्यन्त कौशल के साथ दिखाया जाता है।

"उपन्यास का आरम्भ वास्तव जगत से ही हुआ था। वास्तव जगत ही उपन्यास के मानसिक संयोगों (Subjective Associations) का उत्स है। उपन्यास द्वारा सृष्ट कल्पित जगत के बीच खड़ा होकर मनुष्य उस जगत का निरीक्षण करता है; उसके नायक के साथ एकात्मबोध करता है और उसके साथ मिलकर उसके चतुर्दिक की परिस्थिति की विभिन्नता पर दृष्टिपात करता है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों के साथ उसके चतुर्दिक की परिस्थितियों का जो अन्तर्विरोध होता है उस विरोध को व्यक्त करना उपन्यास का उद्देश्य नहीं होता। उपन्यास का उद्देश्य होता है परिस्थिति अर्थात् जीवन के अनुभवों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप इस अन्तर्विरोध में जो रूपान्तर घटित होता है, उसको व्यक्त करना। श्रेणी-विभक्त समाज में प्रत्येक मनुष्य के अनुभवों में इतनी अधिक विभिन्नता होती है कि उपन्यास में एक-एक काल प्रतिविम्बित हुए बिना नहीं रह सकता। अर्थात् गतिशील प्रत्यक्ष वास्तव उपन्यास में प्रतिफलित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपन्यास में ऐसे चरित्र होंगे जिनकी क्रियाओं एवं भावनाओं का हम बहिर्जगत से ही विचार कर सकते हैं। कविता का संबन्ध मनोजगत से होता है। कवि अपने मनो-जगत की पृष्ठभूमि पर ही इस संसार को देखता है। किन्तु उपन्यास का

संबन्ध बहिर्जगत से होता है। जगत के विभिन्न अंशों से ग्रहण किये हुए नायक के दृश्य समूह [A bundle of perspectives of one 'I' (the character) taken from different parts of the world.]। इसलिये उपन्यास का क्रमविकास उस समाज में ही संभव हो सकता है जिसमें मनुष्यों के अनुभव परस्पर इतने विभिन्न हुआ करते हैं कि बाह्यजगत का आश्रय लिये बिना काम चल ही नहीं सकता। और अनुभव के इस तारतम्य का कारण है समाज में द्रुत परिवर्तन, मनुष्य के कार्यों में विभेद बुद्धि और जीवन की द्वन्द्वमूलक गति की उपलब्धि।" (Christopher Caudwell) उपन्यास-तत्व की ऊपर जो व्याख्या की गयी है उससे यह स्पष्ट है कि उपन्यास में मनुष्य बहिर्जगत का ही रूप देखता है—वह जगत जिससे वह परिचित है और उसमें वह स्वयं संग्रामशील है। अपने इस संसार का ही चित्र वह अपने परिचित चरित्रों के विभिन्नमुखी कार्यकलाप में देखता है। मनुष्य जब एक ही प्रकार का जीवनयापन करते हुए विरस हो उठता है उस समय जीवन की इस विरसता को भूलने के लिये संसार की विचित्र घटनाओं को देखना चाहता है। अपने जीवन का प्रतिबिम्ब वह साहित्य में देखना चाहता है। और जीवन का यह चित्र जितना उपन्यास में प्रतिफलित होता है उतना साहित्य के किसी दूसरे अंग में नहीं। कारण, उपन्यास के वर्णन, चरित-चित्रण, मनोविश्लेषण और कथोपकथन में मनुष्य अपने ही स्वरूप की छाया देखता है। साधारण मनुष्यों का कोई जीवनचरित्र नहीं लिखा जाता। अखबारों में उनके जीवन वृत्तान्त प्रकाशित नहीं होते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके जीवन में कोई विचित्रता नहीं होती। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हास्य-रुदन की लीलायें उनके जीवन में भी उसी प्रकार चलती रहती हैं जिस प्रकार महान् पुरुषों के जीवन में। उनकी इच्छा, अनिच्छा, उनकी सुरुचि, कुरुचि, उनकी मनोवृत्ति, उनके भावोच्छ्वास, मनोवेग, उनका सौन्दर्य्यज्ञान, उनकी रसिकता, उनकी संवेदनशीलता इत्यादि जो अनेक अनुभूतियाँ होती हैं उनका मूर्त्त रूप उन्हें उपन्यासों में ही देखने को मिलता है। उपन्यास में चरित्रचित्रण होता है उसमें मनुष्य अपने सामाजिक रूप को देखता है। व्यक्तिगत रूप में साधा-

रण मनुष्य जो कुछ सोचता है, उसके मन में जो भाव उठते हैं, वह जो कुछ अनुभव करता है, उन सब को वह ठीक तरह से प्रकट नहीं कर सकता। उसके मन में जो भाव निहित होते हैं उनके संबन्ध में भी वह प्रायः अचेतन बना रहता है। किन्तु उसके वे ही अन्तर्हित भाव जब साहित्य में रूपायित हो उठते हैं उस समय उसके मन में यह बात आती है कि उसने भी ऐसा ही सोचा था या इस प्रकार की भावना उसके मन में भी उत्पन्न हुयी थी, किन्तु उसका वह भाव अब व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनीन बन गया है। अपने व्यक्तिगत भाव के इस सार्वजनीन रूप का उपन्यास में प्रकाश देखकर वह आत्मतृप्ति का बोध करता है। और उपन्यास के प्रति उसकी दिलचस्पी बहुत बढ़ जाती है। टाल्सटाय, डास्टोवस्की, तुर्गनेव, विक्टर ह्यूगो, रम्यारल्यां, अपटन सिनक्लेयर, सिनक्लेयर लिविस, गोर्की और हमारे देश के शरत्चन्द्र, प्रेमचन्द आदि लेखकों के उपन्यासों को लोग इसी कारण पढ़ना पसन्द करते हैं और इस श्रेणी के पाठकों की संख्या भी कम नहीं होती।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि समाज में श्रेणी-भेद के कारण जब मनुष्य-मनुष्य के अनुभवों में विशेष तारतम्य दिखायी पड़ने लगता है तभी उपन्यास साहित्य का परिपोषण एवं संवर्द्धन संभव होता है। इसलिये उपन्यास का विकास हम उस युग में ही विशेष रूप से पाते हैं जिस युग में मनुष्य ने ज्ञानविज्ञान के प्रयोग द्वारा एक विराट् शिल्पप्रधान सभ्यता की सृष्टि की थी। प्रकृति के विरुद्ध और फिर इसके बाद समाज के विरुद्ध व्यक्ति का जो संग्राम आरम्भ हुआ उसी की कहानी उपन्यास में अंकित हुई और इसी समय उपन्यास का जन्म भी हुआ। प्रकृति के विरुद्ध संग्रामरत होकर मनुष्य ने एक दिन अपने सामने जिस बृहत् जीवन का आभास पाया था उसी बृहत् एवं सुन्दर जीवन का चित्रण उस युग के उपन्यासों में हुआ था। मध्ययुग के सामन्ततंत्र के ध्वंस के साथ-साथ जिस नूतन महाजनी सभ्यता का उदय होने लगा था उसमें मनुष्य का जीवन एक नूतन आलोक से, एक नूतन सौन्दर्य से, एक नूतन गौरवगरिमा से महिमान्वित हो रहा था। शिल्प-प्रधान युग में मनुष्य को एक अभिनव जीवन का आस्वादन मिल रहा था। अनागत भविष्य का ज्योतिर्मय रूप उसे परिलक्षित हो रहा था। उसके

जीवन में नूतन आशा-आकांक्षा, नूतन भाव एवं नूतन आदर्श की अनुप्रेरणा थी। इसलिये मनुष्य की शक्ति में, उसकी दृढ़ता में, उसकी जययात्रा में इस युग के औपन्यासिकों की सुदृढ़ आस्था थी और उन्होंने मानव जीवन के सत्य को निर्भीकता पूर्वक प्रकाशित किया है।

रेल्फफाकस ने अपनी पुस्तक The Novel and the People में धनिक महाजनी सभ्यता के युग में कला की आलोचना करते हुए लिखा है कि इससे पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं में कलाकारों की जो स्थिति थी वह स्थिति धनतांत्रिक समाज की वर्तमान अवस्था में संपूर्ण परिवर्त्तित हो गयी है। यूरोप के नवोत्थान युग से लेकर अठारहवीं शताब्दी के मध्यतक लेखक का मनुष्य को यथार्थ रूप में देखने और उसका संपूर्ण चित्र चित्रित करने और उसके वर्त्तमान तथा मध्ययुगीय अतीत की समालोचना करने की स्वतंत्रता थी। धनतांत्रिक समाज में ही यथार्थवाद की सृष्टि हुई थी और इस समाज ने ही उपन्यास में इसे वर्त्तमान रूप दिया था। धनतंत्र ने ही मनुष्य को कला का केन्द्र-विन्दु बनाया था और अन्ततः धनतंत्रने ही उन अवस्थाओं को नष्ट कर दिया है जिनमें यथार्थवाद पनप सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य का जो रूप हम कला में और विशेष कर उपन्यास में पाते हैं वह उसका पुंसत्वविहीन विकृत रूप है। "Capitalism which created realism as a method and gave it its present form in the novel, capitalism which made man the centre of art, also in the end destroyed the conditions in which realism can flourish and only permitted man to appear in art, particularly in the novel in a castrated or perverted form." धनिक सभ्यता ने मनुष्य-मनुष्य के बीच जो सहज स्वाभाविक बन्धन थे उन सबको छिन्न-भिन्न करके एकमात्र नग्न स्वार्थ का बन्धन उनके बीच रहने दिया है। सामन्त युग में भी मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण होता था, किन्तु उस शोषण के ऊपर धार्मिक एवं राजनीतिक मोह का आवरण पड़ा हुआ था जिससे उसकी तीव्रता का ज्ञान शोषितों को नहीं होने पाता था। किन्तु

धनतांत्रिक युग में जो शोषण चल रहा है उसका रूप बहुत ही निर्लज्ज, निष्ठुर एवं नग्न है। धनिक सभ्यता ने जीवन की उन समस्त वृत्तियों को, जो गौरवास्पद समझी जाती थीं और जिनके प्रति जनसाधारण के हृदय में श्रद्धा एवं सम्मान की भावना थी, उनकी गौरवगरिमा से रहित कर दिया है। इसने चिकित्सक, वकील, पुरोहित, कवि और विज्ञानी सबको अपना वेतन-भोगी श्रमजीवी बना डाला है। प्राचीन समाज में शोषण का आधार था मनुष्य की दासता। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रभु और दास का प्रत्यक्ष संबन्ध था। एक का जीवन दूसरे के ऊपर संपूर्ण रूप में निर्भर करता था, इसलिये दोनों के बीच वैयक्तिक संबन्ध अत्यन्त घनिष्ट था। श्रमविभाग जटिल नहीं था और व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का प्रकाश अपनी हाथ की कारीगरी में कर सकता था। इस प्रकार के समाज में कला में एक नूतनता एवं सजीवता थी जो अब अधिकांश में नष्ट हो चुकी है।

अठारहवीं शताब्दी उपन्यास का स्वर्णयुग माना जाता है। क्यों? इस लिये कि इस शताब्दी के औपन्यासिक जीवन एवं मनुष्य के संबन्ध में अपने विचारों को निर्भीकभाव से दृढ़तापूर्वक प्रकट कर सकते थे। उन्होंने मनुष्य के अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् दोनों को स्वीकार किया था और उन में किसी की भी उपेक्षा नहीं की थी। परिवर्तनशील बहिर्जगत् जिस प्रकार वास्तव है उसी प्रकार उसके घात-प्रतिघात से प्रभावित अन्तर्जगत् भी वास्तव है। इन दोनों के समन्वय से ही वास्तव की पूर्णरूप में उपलब्धि की जा सकती है। इन दोनों जगतों के प्रभाव-प्रतिप्रभाव से गठित मनुष्य ही जीवन्त मनुष्य है, सत्य मनुष्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के औपन्यासिकों में जीवन और मनुष्य के संबन्ध में यह विचारदृढ़ता नहीं रह गयी। उनके मन में जगत और मनुष्य के संबन्ध में सन्देह और शंकायें उत्पन्न होने लगीं। द्विधाग्रस्तचित्त लेकर वे इस वास्तव जगत से पलायन करने और किसी काल्पनिक जगत में आश्रय ग्रहण करने की बात सोचने लगे। इन में कुछ ने तो कल्पना द्वारा अलकापुरी की रचना करके उसी में आश्रय ग्रहण किया और उसके ऊपर "कला कला के लिये" का रेशमी झंडा फहराया। "कला कला के लिये" की यह आवाज एक प्रकार से उस सभ्यता के प्रति चुनौती थी जिसमें रुपये पैसे के मूल्य के

सिवा कला का और कोई दूसरा मूल्य ही नहीं था किन्तु " कला कला के लिये " की आवाज "कला धन के लिये" इस सिद्धान्त का एक नैराश्यपूर्ण उत्तर थी।

रानी विक्टोरिया के राज्यकाल में जिन अंगरेजी उपन्यासों की रचना हुई थी उन की सब से बड़ी विशेषता है उल्लेखणीय चरित्रों की सृष्टि। इस समय के उपन्यासों की सफलता-असफलता की एकमात्र कसौटी है उनके चरित्रों का व्यक्तित्व। इस युग का सब से बड़ा औपन्यासिक था चार्ल्स डिकेन्स। उसने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल से जीवन के मर्मस्थल में प्रवेश कर के मनुष्य के जीवन्त एवं यथार्थ रूप का चित्रण किया है। उसमें रसिकता और हास्यरस का ज्ञान यथेष्ट का। दुर्बलों के प्रति उस के हृदय में वास्तव सहानुभूति थी, और उनके जीवन के मर्मस्थल तक पहुंचने में वह समर्थ हुआ था। इसलिये उसके उपन्यासों में निम्न मध्यवित्त श्रेणी का चरित्र-चित्रण ज्वलंत रूप में हुआ है। इस युग के सभी औपन्यासिक अपने चरित्रों को पूरी तड़क-भड़क के साथ उपस्थित करते हैं। उनकी वंशावली, उनका रूप-रंग, उनकी आकृति-प्रकृति, उनकी व्यक्तिगत विशेषतायें, उनकी रुचि, धर्म, नीति, सदाचार आदि के संबन्ध में उनके निजी विचार आदि का ये सांगोपांग वर्णन करेंगे। उपन्यास के पृष्ट के पृष्ट इन्हीं सब बातों से भर दिये जाते हैं। किन्तु इन चरित्रों में आश्चर्य्यजनक सजीवता पायी जाती है और यही कारण है कि इनके पाठकों की संख्या आज भी नगण्य नहीं कही जा सकती। पाठकों के मन पर ये चरित्र अपनी एक छाप छोड़ जाते हैं और इस कारण ही ये चिरकाल तक स्मरणीय बने रहते हैं।

आधुनिक उपन्यासों में इस प्रकार के चरित्रों का अभाव पाया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आधुनिक युग के औपन्यासिक पहले के औपन्यासिकों की अपेक्षा कम प्रतिभाशाली हैं। पार्थक्य का कारण प्रतिभा का तारतम्य नहीं बल्कि जीवन को विभिन्न दृष्टिभंगियों से देखना है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक के उपन्यासों में हम चरित्रों के व्यक्तित्व की अपेक्षा उनके कार्य्यकलाप की ही विशेषता पाते हैं। इस समय के औपन्यासिकों का स्पष्ट उद्देश्य था अपने

किसी मतवाद का प्रचार करना। इसलिये इनके उपन्यासों में ऐसे ही चरित्रों की सृष्टि की गयी है जो लेखक के किसी मतवाद या सिद्धान्त का प्रचार करते हैं, अथवा किसी नीति या सामाजिक दुराचार की ओर निर्देश करते हैं। प्रायः सभी उपन्यासों में प्रचार का तत्व प्रकट या अप्रकट रूप में अवश्य पाया जाता है। गत महायुद्ध के बाद यूरोप में उद्देश्यमूलक साहित्य का जो विशेष प्रचार देखा जाने लगा इस का कारण था लोगों में आकाङ्क्षित नीति का प्रचार—अर्थात् जिस मतवाद की ओर लोगों की प्रवृत्ति विशेष रूप में दिखायी पड़ती थी कहानी के रूप में छद्मभेष में उसी का प्रचार किया जाता था। अपने इस परिवर्तित रूप में उपन्यास अब केवल मनोरञ्जन का साधन ही नहीं रह गया है, बल्कि मनुष्य के लिये अति प्रयोजनीय बन गया है। इस युग का मनुष्य केवल व्यक्ति विशेष का आत्मप्रकाश नहीं चाहता, वह चाहता है सार्वजनीन आत्मप्रकाश और इस आत्मप्रकाश के लिये ही इस युग के अधिकांश पाठक सामाजिक उपन्यास पढ़ना पसन्द करते हैं। जीवन की वाणी सुनने के लिये उन्हें उपन्यास पढ़ना ही पड़ता है। इस दृष्टि से आधुनिक युग में उपन्यास हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है।

एक ओर जहाँ आधुनिक उपन्यासों में किसी नीति या उद्देश्य के प्रचार की भावना देखी जाती है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक लेखक अपने पात्रों के मनोराज्य के विश्लेषण में विशेष रूप से संलग्न दिखायी पड़ता है। वह पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है, उनके मन के अन्तःपुर में प्रवेश कर के अनुसन्धान करता है और तथ्यों का आविष्कार करता है। उसके इस रहस्यानुसन्धान का स्पष्ट अभिप्राय होता है यह दिखाना कि उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में मानवचरित्र को जितना सहज एवं सरल बताया गया है वस्तुतः वह उतना सरल नहीं है। उस युग के उपन्यासों के पात्र जिस प्रकार या तो देवोपम चरित्र होते थे अथवा दानवोपम उस प्रकार के पात्र आज के उपन्यासों में कदाचित् ही पाये जाते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हम जिस प्रकार के पात्रों को पाते हैं वे बड़े ही जटिल चरित्र के मनुष्य होते हैं। एक ही व्यक्ति एक क्षण में अद्भुत वीरत्व एवं त्याग दिखा सकता है, और दूसरे क्षण में वही व्यक्ति इतना नीच बन जा सकता है कि उसकी उस

नीचता पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। केवल व्यक्ति के चरित्र में ही नहीं बल्कि मनुष्य के पारस्परिक संबन्ध में भी यह जटिलता देखी जाती है। आधुनिक पाठक भी उपन्यासों में इस प्रकार के पात्रों की सृष्टि नहीं चाहता जिनके चरित्र में नैतिक सरलता हो, जो साधु और सज्जन हों। पात्रों के क्रिया-कलाप का वर्णन भी उसके लिये उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है। वह पात्रों के अन्तर्जगत् की, उनके मन के गोपन प्रदेश की झाँकी देखना चाहता है? दो पात्रों के बीच वैर-विरोध को वह उतना महत्त्व नहीं देता जितना एक ही व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को। इसलिये उपन्यासकार से यह आशा की जाती है कि वह मनुष्य के वाह्य और अन्तर में जो कुछ है सब का चित्रण करेगा। दूसरे शब्दों में आधुनिक उपन्यासकार जीवन का चित्रण करेगा— उस जीवन का जिसका प्रकृत अनुभव जीवनयापन करनेवालों को होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में स्पष्टतः आधुनिक मनोविज्ञान का प्रभाव विशेष रूप में देखा जा रहा है। इस दिशा में औपन्यासिकों के जो प्रयोग चल रहे हैं वे अनेकांश में परीक्षामूलक ही कहे जायँगे। मनुष्य जीवम यापन करते हुए वास्तव रूप में जिन अनुभवों को प्राप्त करता है, ठीक उन्हीं अनुभवों को अपने पात्रों के जीवन में यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न आधुनिक उपन्यास-कार करता है। और इस दिशा में आधुनिक उपन्यासकार जितना ही आगे बढ़ते जाते हैं; साहित्य का संबन्ध मनोविज्ञान के साथ उतना ही घनिष्टतर होता जा रहा है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि कुछ उपन्यासों को पढ़ने के बाद यही धारणा होती है कि लेखक ने मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण-विज्ञान के सिद्धान्तों को दृष्टान्तों द्वारा समझाने के उद्देश्य से ही उपन्यास की रचना की है। इस प्रकार के उपन्यासों में स्वभावतः कथानक का कोई महत्त्व नहीं होता। इनके पात्र साधारण होते हैं; इतने साधारण कि आप शायद ही उन्हें स्मरण रख सकें। आधुनिक काल के उपन्यास-लेखकों में लारेन्स, हकसले, भर्जिनिया उल्फ, जेम्सजोयास के नाम विशेष रूप में उल्लेखणीय हैं। इनके किसी भी उपन्यास में आपको कोई ऐसा पात्र नहीं मिलेगा जिसके नाम को आप चिरकाल तक स्मरण रख सकें। आज के उपन्यासों में कथानक के बदले एक व्यक्ति विशेष के इतिहास को कथावस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं और

उसके शैशव से लेकर मृत्युकाल तक की कहानी का सांगोपांग वर्णन करते हैं। जीवन की साधारण से साधारण या तुच्छ से तुच्छ घटनाओं को चित्रित करने की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि जेम्सजोयास ने एक व्यक्ति के एक दिन के जीवन की घटनाओं का वर्णन करने में ही सारे उपन्यास को रंग डाला है।

इस श्रेणी के उपन्यासों में मानवचरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण अथवा मानव मन के गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन भले ही होता हो किन्तु वास्तव जीवन की वह बलिष्ठ दृष्टिभंगी इन में नहीं पायी जाती जो पहले के उपन्यासों में पायी जाती थी। सर्वसाधारण जनता के जीवन पर इनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और न इनमें जीवन देवता की वाणी उन्हें सुनायी पड़ती है। इस श्रेणी के लेखक वर्तमान समाज-व्यवस्था के क्षयिष्णु रूप तथा उस की दुर्बलताओं को समझते हुए उसके विरुद्ध विद्रोह की वाणी तो व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित करके उसकी नैतिक उन्नति एवं आन्तरिक परितृप्ति के लिये साहित्य की रचना नहीं कर सकते। इनकी कृतियों में वह सजीवता, वह तेजस्विता नहीं पायी जाती जो लक्ष-लक्ष मनुष्यों को अनुप्राणित कर सके, उन्हें मुक्त जीवन का रसास्वादन करा सके। इसके विपरीत मृत्यु की विभीषिका एवं नैराश्य का करुण सुर ही उनमें झंकृत हुआ है। मानव जाति के भविष्य में इनका विश्वास ही नहीं रह गया है।

आज संसार में एक मात्र सोवियत् रूस ही ऐसा देश है जहाँ औपन्यासिकों का सम्मान और सब देशों की अपेक्षा अधिक है, और जहाँ के उपन्यासों ने लक्ष-लक्ष मनुष्यों को नवजीवन का संदेश सुनाया है और उनके जीवन को नवप्रेरणा से अनुप्राणित किया है। इस श्रेणी के लेखकों में सर्वप्रथम नाम गोर्की का लिया जा सकता है। गोर्की के प्रति रूसवासियों की श्रद्धा असीम है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जो जीवन-वाणी सुनायी है उससे रूसी युवकों को एक नवीन प्रेरणा मिली है। रूस के आधुनिक तरुण लेखकों में शोलोखभ (Mikhail Sholokhev) का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनके विश्वविख्यात उपन्यास 'And quiet flows theDon' तथा 'Virgin Soil upturned' बलिष्ठ होने के साथ-साथ कला-कौशल की दृष्टि से भी बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

इंगलैण्ड और अमेरिका में भी तरुण लेखकों का एक दल गोर्की के मार्ग का अनुसरण करते हुए नूतन साहित्य की सृष्टि कर रहा है। ये तरुण लेखक वेल्स, लारेन्स और जेम्सजोयास का अनुसरण न कर के सर्वसाधारण जनता से अपने उपन्यासों के लिये पात्र लेते हैं। वे इस बात को अब अच्छी तरह महसूस करने लगे हैं कि श्रमजीवी वर्ग के साथ लेखकों का जब तक घनिष्ट संपर्क स्थापित नहीं होता तब तक अंगरेजी साहित्य का भविष्य आशापूर्ण नहीं हो सकता। इस श्रेणी के लेखक क्रमशः अधिकाधिक रूप में इस बात को महसूस करने लगे हैं कि उनके लिये एक मात्र आशा इसी बात में है कि वे गोर्की द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करें। इस मार्ग का अनुसरण करके ही वे अपने देश की संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं और एक नूतन जगत तथा नूतन मानव समाज की स्थापना के लिये संग्राम कर सकते हैं।

प्राचीन काल में महाकाव्य द्वारा जनसाधारण के जीवन में जो प्रेरणा एवं कर्मोन्मादना प्राप्त होती थी उससे ही वह अपनी कल्पना को वास्तव रूप देने की चेष्टा करता था। इसके बाद धनिक सभ्यता के युग में कथा-साहित्य का विकास हुआ और निस्सन्देह यह उस सभ्यता का सर्वश्रेष्ठ दान है। किन्तु जिस धनिक सभ्यता ने इसे जन्म दिया था वह स्वयं आज म्रियमाण हो रही है। उस में सजीवता एवं तेजस्विता नहीं रह गयी है। इसलिये कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या धनिक सभ्यता की मृत्यु के साथ-साथ उपन्यास की भी मृत्यु हो जायगी? किन्तु जिन्हे मानव समाज के ज्योतिर्मय भविष्य में विश्वास है वे इस प्रकार की आशंका नहीं करते। आधुनिक युग में उपन्यास ने अनेकांश में महाकाव्य का स्थान ग्रहण कर लिया है। उसका वह महाकाव्यिक गुण इस समय बहुत कुछ नष्ट हो चुका है सही, किन्तु निकट भविष्य में ही नूतन मानव समाज की सृष्टि तथा मानव जीवन के महत्तर एवं सुन्दरतर होने के साथ-साथ उपन्यास का समादर और भी बढ़ेगा और मनुष्य के भाव, विचार एवं दृष्टिभंगी में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उपन्यास-कला में भी परिवर्तन होगा और अपने इस परिवर्तित रूप में वह और भी उन्नत एवं सुन्दर होगी। उपन्यास का अतीत इतिहास इस बात का प्रमाण है।

आधुनिक समालोचना-पद्धति

संसार परिवर्त्तनशील है। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी, मनुष्य और समाज के संबन्ध में हमारी धारणायें सदा एक समान नहीं रहतीं। उन में परिवर्त्तन होता रहता है। साहित्य, शिल्प, कला आदि मानव द्वारा सृष्ट होने के कारण मानव समाज से ही रसपान कर के परिपुष्ट होते रहते हैं। बाह्यजगत के विभिन्न रूपों एवं व्यापारों के प्रति मानव मन में जो रसात्मक अनुभूति होती है उससे ही साहित्य एवं शिल्प का जन्म होता है। एक-एक युग का साहित्य उस युग विशेष में समाज की जैसी विचार-धारा एवं दृष्टिभंगी होती है उसके अनुसार ही अपने लिये उपादान ग्रहण कर के परिपोषित एवं संवर्द्धित होता है। जिस प्रकार मनुष्य की सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास, उसके जीवन-संग्राम का एवं उसकी संघर्षशील प्रगति का इतिहास है, उसी प्रकार साहित्य का भी इतिहास मनुष्य के युग-युग के मन, विचार एवं उसके अन्तर की भावनाओं का प्रतिविम्ब है। युग विशेष के विचार एवं धारणायें कुछ न कुछ अंशों में अवश्य ही उस युग के साहित्य-मुकुर में प्रतिविम्बित होती हैं। इसलिये साहित्य पर विचार करते समय हमें परिस्थिति के अनुसार मनुष्य के विचार में जो परिवर्त्तन होते रहते हैं और उन परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के परिवर्त्तनशील जीवन पर जिस रूप में पड़ता है उसकी पृष्ठभूमि पर दृष्टि रख कर ही विवेचना करना होगा। साहित्य एवं शिल्प के लिये जिस रसानुभूति का प्रयोजन है वह प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है। वह जीवन से घनिष्ट रूप में सम्बन्धित है। इसलिये साहित्य का भी संबन्ध मानव जीवन की तरह इस वास्तव जगत से ही है और साहित्य, युग, समाज, जीवन एवं परिस्थिति से निरपेक्ष न होकर युग, समाज, जीवन एवं परिस्थिति के सापेक्ष है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर यदि हम साहित्य पर विचार करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक साहित्य की समालोचना करते समय हमें प्राचीन परिपाटी का परित्याग करके नूतन पद्धति एवं दृष्टिकोण को सामने रखना होगा।

यह नूतन दृष्टिकोण क्या है? यह नूतन दृष्टिकोण है मार्क्सदर्शन, जिसका

संबन्ध मनुष्य के भौतिक जीवन से है और जो मानव जाति के क्रमविकास के सम्पूर्ण इतिहास की व्याख्या वास्तव जीवन के आधार पर करता है। मार्क्सदर्शन का मूल सूत्र है द्वन्द्वमूलक जड़वाद या Dialectical Materialism. इसके अनुसार मानव समाज के इतिहास में अबतक जो परिवर्त्तन हुए हैं उनके मूल में कोई अलौकिक शक्ति की प्रेरणा काम नहीं कर रही है। मानव जाति का इतिहास किसी परब्रह्म की इच्छा का प्रकाश नहीं है। सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होते हुए मनुष्य ने आदि काल से लेकर अब तक जो अभियान किये हैं इन अभियानों में उसे जो संघर्ष एवं संग्राम करने पड़े हैं उन्हीं को लेकर मानव जाति एवं समाज का इतिहास निर्मित हुआ है। इसलिये मनुष्य का विचार करते समय जिस प्रकार वास्तव जगत के साथ, उसकी मिट्टी और अन्न जल के साथ उसका जो घनिष्ट संबन्ध है उसे हम नहीं भूल सकते उसी प्रकार साहित्य एवं संस्कृति का विचार करते समय भी हम युग विशेष के मनुष्यों के विचार एवं भावों की उपेक्षा नहीं कर सकते। समालोचना की इस नूतन पद्धति को लेकर ही आधुनिक काल में साहित्य के विभिन्न अंगों पर विचार किया जाता है और उनका यथार्थ मूल्याङ्कण किया जाता है।

समालोचना की इस नूतन पद्धति पर विचार करने के पूर्व हमें यह देखना है कि अबतक समालोचकों ने साहित्य-समालोचना में किन-किन विचार-पद्धतियों का अवलम्बन किया है और समालोचना के संबन्ध में उनकी दृष्टिभंगी क्या रही है। कुछ विशिष्ट सूत्रों एवं सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य-समालोचना की पद्धति बहुत प्राचीन काल से प्रचलित चली आती है। शब्दविन्यास, अर्थ-चमत्कार, वाग-वैदग्ध्य, उक्तिवैचित्र्य, छन्द, अलंकार आदि के बंधे-बंधाये नियमों की कसौटी पर साहित्य की परीक्षा की जाती है। इस पद्धति के समालोचक साहित्य की प्रगतिशीलता पर विश्वास नहीं करते। दूसरी श्रेणी के समालोचक साहित्य की स्वच्छन्द गतिशीलता पर विश्वास करते हैं। उनके विचार से साहित्य में मानव मन का स्वतः स्फूर्त प्रकाश होता है, उसके अन्तर मन की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये जिस प्रकार मन की स्वच्छन्द गति को बाँध कर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार किसी

निर्दिष्ट नियम या सूत्र को ही सब कुछ मान कर उसके आधार पर साहित्य के उत्कर्षापकर्ष की परीक्षा नहीं की जा सकती। तीसरा दल उन लोगों का है जो साहित्य या कला की अभिव्यञ्जना के अन्तःसंस्कार (Impressions) को ही सब कुछ मानते हैं। इस श्रेणी के समालोचकों ने अपनी समालोचना को प्रभावात्मक समीक्षा या (Impressionist Criticism) कहा है। इस दल का कहना है कि हम साहित्य पर विचार करते समय केवल यही देखेंगे कि उसका हमारे जीवन पर किस रूप में प्रभाव पड़ा है; उसने हमारे मन एवं भावनाओं को कहाँ तक प्रभावित किया है। किन्तु व्यक्ति विशेष के मन पर साहित्य का प्रभाव किस रूप में पड़ा है इस दृष्टि से यदि समालोचना की जाय तो इस में एक बड़ा दोष यह होगा कि व्यक्ति विशेष की रुचि की कसौटी पर साहित्य का विचार होगा, न कि साहित्य के गुण-दोषों पर। अभिव्यञ्जनावाद के समर्थक समालोचकों ने काव्य या कला को प्रकृति या सृष्टि से सम्पूर्ण भिन्न एक नूतन सृष्टि माना है। उनके विचार से कला की वास्तविक अभिव्यञ्जना हमें उसकी कल्पना में ही मिलती है और कल्पना का यह लोक सर्वथा निराला होता है। इस स्कूल के आचार्य क्रोचे (Croce) ने कल्पना को एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक क्रिया मान कर कला के बोध पक्ष को बुद्धि या तर्क के बोध पक्ष से सर्वथा पृथक् माना है। समालोचकों पर आक्षेप करते हुए उसने लिखा है कि प्रशंसा या निन्दापूर्ण वाक्यों द्वारा शिल्प पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं नैतिक जगत् से कला संपूर्ण स्वतंत्र है। Art is independent both of science and of the useful and the moral. क्रोचे के मत से शिल्प का कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता। उसके लिये सुन्दर या असुन्दर का प्रश्न भी लागू नहीं होता। शिल्पी यदि असुन्दर को भी अपने अन्तर में उपलब्ध कर के उसे कला का रूप दे देता है तो वह असुन्दर न रह कर कला बन जाता है। इसी श्रेणी के अन्तर्गत वे समालोचक भी आते हैं जो साहित्य के श्रेष्ठत्व की परीक्षा सौन्दर्य्य तत्व के अनुसार करते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य्य की भावना से उत्पन्न जो आनुषङ्गिक आनन्द है वही काव्य की कसौटी है। इस श्रेणी के समालोचक -"कला कला के लिये" के सिद्धान्त में

विश्वास करते हैं और रस ग्रहण करना तथा पाठकों के हृदय में रसानुभूति का उद्रेक कराना ही समालोचना का उद्देश्य समझते हैं। सब से पहले आस्कर वाइल्ड ने साहित्य-समालोचना की इस पद्धति का बड़े धड़ल्ले के साथ प्रचार करना शुरू किया था। उसने कला को आचार तथा सुनीति एवं दुर्नीति से सर्वथा पृथक् मान कर उसकी समालोचना करने की पद्धति चलायी। कला के अन्तर्गत सत् एवं असत् का, सुनीति एवं दुर्नीति का प्रश्न ही नहीं उठता। आस्कर वाइल्ड ने तो यहाँ तक लिख डाला कि "Ethical sympathy in an artist is an unpardonable crime." अर्थात् कलाकार के लिये सदाचार के प्रति सहानुभूति दिखाना एक अक्षम्य अपराध है।

यूरोप में "कला कला के लिये" इस सिद्धान्त को मान कर चलनेवाले साहित्य-समालोचकों का कुछ समय तक काफी बोलबाला रहा। कितने ही समालोचकों ने बड़े जोश के साथ इस मत का प्रचार करना शुरू किया। किन्तु अब इस श्रेणी के समालोचकों की संख्या बहुत कम हो गयी है। बड़े-बड़े साहित्य-समालोचकों ने साहित्य-समालोचना का जो मानदण्ड स्थिर किया है उसके अनुसार "कला कला के लिये" अर्थात् कला में नीति या सदाचार का कोई स्थान ही नहीं होता इस मत का बहुत कुछ निराकरण हो गया है और कला का मानव जीवन के साथ अविच्छेद्य संबन्ध मान लिया गया है। मानव जीवन से विच्छिन्न कला का कोई अस्तित्व नहीं है। वह मानव हृदय की रसात्मक अनुभूति है और इस रसात्मक अनुभूति को अन्य मानव हृदय तक पहुंचाना ही इसका उद्देश्य है। सुप्रसिद्ध अंगरेज समालोचक रिचार्डस ने भी अपनी पुस्तक में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि काव्य और जीवन के बीच कोई ऐसी खाई नहीं है जिसे पूरा नहीं किया जा सके। हमारे नित्य के आवेगपूर्ण जीवन और काव्य के उपादान के बीच कोई व्यवधान नहीं है। जीवन की सर्वोत्तम मौलिक अभिव्यक्ति में बाध्य होकर काव्य-कौशल का व्यवहार करना पड़ता है.........।" आरिस्टटल ने तो बहुत पहले ही कला कला के लिये इस सिद्धान्त को अर्थहीन बता कर अग्राह्य कर दिया था। उसने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि काव्य में सौन्दर्य्य पक्ष की प्रधानता

होने पर भी वह जीवन से परे केवल कल्पना लोक की वस्तु नहीं है। काव्य में सौन्दर्य्य तत्व के साथ-साथ जीवन-तत्व का भी समावेश है। इसलिये कविता में केवल सौन्दर्य्य का ही अनुसन्धान नहीं करना पड़ेगा बल्कि इसके साथ-साथ यह भी देखना पड़ेगा कि उसका हमारे जीवन पर किस रूप में प्रभाव पड़ता है। इसलिये Aesthetic Criticism के अन्तर्गत जो समालोचना की जाती है उसमें अब केवल सौन्दर्य्य-तत्व का ही विचार नहीं किया जाता बल्कि इस बात पर भी विचार किया जाता है कि पाठकों के मन पर उसका कहाँ तक प्रभाव पड़ता है।

ऊपर जिन सब विभिन्न समालोचना-पद्धतियों का उल्लेख हुआ है उनमें किसी में भी समाज की गतिशीलता का ऐतिहासिक पट-भूमि पर समालोचना का विचार नहीं किया गया है। साहित्य में चाहे सौन्दर्य्य-तत्व का अनुसंधान कीजिये अथवा लोक-कल्याण की भावना का, उसमें युग विशेष के भाव एवं विचारों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रह सकती इस बात को अब से पहले किसी भी समालोचना-पद्धति में स्पष्ट रूपसे स्वीकार नहीं किया गया था। अब तक साहित्य की जो समीक्षा होती आ रही थी उसमें युग की साहित्यिक अभिरुचि को ध्यान में रखकर उसका वर्गीकरण किया जाता था, उसके मूलोद्गम का पता लगाया जाता था, उसकी शैली, छन्द, आदि की परीक्षा करके उसके गुण-दोषों की विवेचना की जाती थी और उसकी खूबियों और अच्छाइयों पर प्रकाश डालकर यह दिखलाया जाता था कि उसमें रस का परिपाक कहाँ तक हुआ है और वह पाठकों के लिये कहाँ तक हृदयग्राही सिद्ध हुआ है। साहित्य-समालोचक के लिये गम्भीर रसज्ञान एवं सौन्दर्य्य-बोध ही आवश्यक समझा जाता था। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित नवीन प्रवृत्तियों में एक प्रवृत्ति यह भी देखी जाती है कि काव्य के क्षेत्र में बुद्धिवाद के लिये स्थान नहीं हो सकता। अर्थात् बुद्धि के बलपर कविता के सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कविता को लौट चलना चाहिए प्रकृति की ओर। कविता में शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उसकी नाद-शक्ति पर विशेष ध्यान देने और इस प्रकार कविता को संगीत के सन्निकट

लाने की एक नयी प्रवृत्ति भी देखी जा रही है। इस श्रेणी के समीक्षक कविता में संवेदनावाद (Impressionism) का ही अनुसंधान करते हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड ने "Poetry is the criticism of life" कविता जीवन की समालोचना है इस रूप में काव्य की परिभाषा करते हुए इस बात का निर्देश किया है कि कविता का संबन्ध जीवन से है। इसी परिभाषा को लक्ष्य में रखकर अंगरेज समालोचक रिचर्डस ने कहा है कि जिस प्रकार चिकित्सक का संबन्ध देह की स्वस्थता से होता है उसी प्रकार समालोचक का भी संबन्ध मन की स्वस्थता से है। समालोचक का काम है साहित्य के मूल्यों का निरूपण करना। To set up as a critic is to set up as a judge of values. क्योंकि कलाकार की इच्छाओं से संपूर्ण पृथक रूप में कला जीवन का मूल्यनिरूपण है। कलाकार का काम होता है अपनी उन अनुभूतियों को लिपिबद्ध करना तथा उन्हें स्थायी रूप प्रदान करना जिन्हें वह अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है। उसकी इन अनुभूतियों में ही हमे मानव मन के विकास का दिगदर्शन मिलता है। साधारण मनुष्यों के मन में जो सब आवेग विश्रृङ्खल एवं परस्पर उलझी हुई अवस्था में रहते हैं उन्हीं का एक समन्वय-साधन हम कलाकार की उन अनुभूतियों में पाते हैं जो अनुभूतियाँ उसकी कृति को मूल्य प्रदान करती हैं। टाल्सटाय की दृष्टि में कला की समीक्षा एक मात्र इसी कसौटी पर की जा सकती है कि उसके द्वारा युग विशेष के धार्मिक चैतन्य का कहाँ तक उद्‌बोधन हो सकता है। क्योंकि धार्मिक चैतन्य ही जीवन के मर्म की सर्वोच्च धारणा हो सकता है और इसके द्वारा ही विश्व मानव का ईश्वर के साथ और परस्पर सम्मिलन संभव हो सकता है। इसलिये टाल्सटाय कला के सार्वजनीन रूप को ही स्वीकार करता है और उसका मूल्याङ्कण एक मात्र इसी बात से करता है कि उसके द्वारा मनुष्य-मनुष्य का मिलन कहाँ तक संभव हो सकता है।

समालोचना-क्षेत्र में जिस नूतन पद्धति का ऊपर उल्लेख किया गया है उसकी पृष्ठभूमि है मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की वास्तव-वादी व्याख्या। मार्क्स दर्शन में सब वस्तुओं को जड़ माना गया है, किन्तु साथ ही ऐतिहासिक प्रयोजन के अनुसार इन सब जड़ वास्तविकताओं को

स्थितिशील नहीं गतिशील माना गया है। मानव समाज स्थितिशील नहीं गतिशील है। समाज का सीमाहीन क्रमविकास निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर हो रहा है। समाज की इस गतिशीलता के साथ मनुष्य का प्रत्यक्ष संबन्ध है, कारण मनुष्य की आशा-आकाँक्षाओं के घात-प्रतिघात एवं क्रिया-प्रतिक्रिया के ऊपर समाज का क्रमविकास निर्भर करता है। यह सच है कि मनुष्य के जीवन पर उसकी परिस्थितियों का प्रभाव सक्रिय एवं व्यापक रूप में पड़ता है, और ऐतिहासिक क्रमविकास की धारा में ही ये परिस्थितियाँ पहले से ही निर्धारित होती रहती हैं, फिर भी मनुष्य अपनी परिस्थितियों का दास नहीं होता। परिस्थितियों के साथ मनुष्य का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और इसके फलस्वरूप दोनों में परिवर्तन होते रहते हैं। समाज-विज्ञान के संबन्ध में मार्क्स के इस नूतन दर्शन एवं विचारधारा के आधार पर संपूर्ण सामाजिक समस्याओं का विचार किया जाने लगा है, और चूँकि साहित्य एवं शिल्प के साथ इन सब समस्याओं का अविच्छेद्य संबन्ध माना जाता है इसलिये स्वभावतः ही सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि पर इस नूतन समालोचना-पद्धति की नींव प्रतिष्ठित हुई है। इंगलैण्ड के क्रिष्टोफर काडवेल ने अपनी पुस्तक I llusion and Reality में इसी नूतन पद्धति से अंगरेजी काव्य साहित्य का तथा रैल्फ फाकस ने The Novel and the People में उपन्यास साहित्य की समालोचना की है। स्टिफेन, स्पेन्डर, सेसिल डे-लूइस तथा अमेरिका के ग्रेनभिल हिकस, जोसेफ फ्रिमैन, जेम्स टी फेरेल आदि भी इसी नूतन श्रेणी के समालोचक हैं।

मार्क्स दर्शन तथा मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर साहित्य, शिल्प आदि की आलोचना करने का अर्थ यह नहीं है कि मार्क्स ने इस के सम्बन्ध में अपना कोई विशेष मत या सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और उसी को सूत्र रूप में ग्रहण करके नूतन समालोचना की पद्धति प्रचलित हुई है। मानव समाज के क्रमविकास में आर्थिक समस्याओं की आरम्भ से ही प्रधानता रही है और इसी आर्थिक समस्या रूपी धुरी पर समाज का रथचक्र प्रवर्त्तित हो रहा है। इसलिये मार्क्स का विश्वास था कि जब तक आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं होता तब तक उत्कृष्ट साहित्य एवं

शिल्प की उन्नति नहीं हो सकती । समाज का क्रमविकास अथवा उस में जो परिवर्तन एवं विप्लव होते रहते हैं उनका मूल कारण आर्थिक होता है इस बात को मानते हुए भी मार्क्स ने स्पष्ट रूप में यह स्वीकार किया है कि आर्थिक या राजनीतिक परिवर्तन जिस प्रकार विज्ञान-सापेक्ष है संस्कृति, साहित्य, शिल्प आदि का उस रूप में वैप्लविक परिवर्तन नहीं होता । साहित्य एवं शिल्प की रचना किसी प्रयोगशाला में बैठकर नहीं की जाती, और न यही कहा जा सकता है कि अब तक जिन-जिन देशों में साहित्य एवं शिल्प की जो सृष्टि हुई है, उनका जो सुन्दरतम विकास हुआ है उन सब के मूल में आर्थिक कारण ही काम कर रहा था अथवा समाज का जिस रूप में क्रमविकास हुआ है उसी रूप में साहित्य और शिल्प का भी क्रमविकास हुआ है । साहित्य एवं कला का विकास समाज के विकास से संपूर्ण भिन्न पद्धति पर भी संभव हो सकता है । इसलिये साहित्य या कला के सम्बन्ध में मार्क्स का मत यह था कि जिस युग में जिस साहित्य की सृष्टि होती है उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर साहित्य पर विचार करना होगा और ये परिस्थितियाँ प्रधानतः आर्थिक होने पर भी संपूर्णतया आर्थिक नहीं होतीं । इनके साथ-साथ और भी समस्यायें—मानव मन की आशा-आकांक्षायें, व्यक्तिगत राग-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा और उन की क्रिया-प्रतिक्रिया भी चलती रहती है । इसलिये साहित्यिक प्रतिभा बहुत कुछ परिस्थितियों के ऊपर निर्भर करती है जिसका एक प्रमुख अंग होता है आर्थिक अवस्था । इस आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ वंशानुक्रमिक धारा एवं मनःशक्ति के सम्मिश्रण के ऊपर भी प्रतिभा का विकास बहुत कुछ निर्भर करता है । प्रतिभा किसी आधिभौतिक या दैवी शक्ति का दान नहीं है, अथवा आकस्मिक घटनाओं का फल नहीं है, बल्कि वह सुनिर्दिष्ट कर्मों द्वारा नियंत्रित है । इस पद्धति के आधार पर समालोचना करनेवालों का काम होगा युग विशेष की परिस्थितियों एवं उनकी प्रेरणाओं का द्वार उन्मुक्त करना । यही साहित्य की वास्तविक समालोचना होगी ।

समालोचना की इस नूतन पद्धति का अवलम्बन कर के साहित्य के विभिन्न अंगों की समालोचना होने लगी है । क्रिस्टाफर काडवेल ने इसी

पद्धति पर अंगरेजी काव्य की आलोचना की है। उसने लिखा है कि कविता भाषा में लिखी जाती है और भाषा की उत्पत्ति समाज से होती है। भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, और एक दूसरे को अपने विचारों से प्रेरित करते हैं। इसलिये कविता के मूल उत्स का अध्ययन समाज के अध्ययन से पृथक रूप में नहीं किया जा सकता। काडवेल के मत से कला का संबन्ध केवल मानव मन से ही नहीं है। मन के साथ-साथ बाह्य जगत से भी उसका सम्बन्ध है। वस्तु के साथ मन का, प्रकृति के साथ मनुष्य का जो अविच्छिन्न विरोध एवं मिलन चलता रहता है वही सत्य है। कला तभी तक कलाकार या कलापारखी की हृदयानुभूति तक सीमित रहती है जब तक वह सृष्टि या रसानुभूति का विषय बनी रहती है। किन्तु इस से परे जब हम समालोचना के क्षेत्र में आते हैं तब स्पष्टतः हम बाह्य दृष्टि से कला की समीक्षा करने लगते हैं। और यह 'बाह्य' क्या है ? कला की सृष्टि समाज से होती है, जिस प्रकार मोती की उत्पत्ति सीप होती है। इसलिये कला के क्षेत्र से बाहर खड़ा होने का अर्थ है समाज के भीतर खड़ा होना। कला की सृष्टि या उसका विशुद्ध उपभोग एक बात है और उसकी समीक्षा इससे संपूर्ण भिन्न बात। कलाकी समीक्षा में उसके जो अंगभूत सामाजिक उपादान हैं उन पर भी हमें विचार करना होता है। इसलिये विशुद्ध सौन्दर्य्य तत्व के क्षेत्र में या तो कला का स्रष्टा रह सकता है अथवा उसका रसोपभोग करनेवाला पाठक। काव्य के उपादान का प्रत्यक्ष अस्तित्व ही काव्य का सत्य नहीं है, काव्य की गतिशीलता एवं सामूहिक आवेग its dynamic role in society-its content of collective emotions, is therefore poetry's truth." ही काव्य का सत्य है।

प्राचीन युग में मनुष्य ने प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की थी। किन्तु प्रकृति उसके लिये संपूर्ण रहस्यमयी बनी हुई थी। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति नहीं हुई थी। इसलिये प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ मनुष्य ने देव-देवियों की भावना स्थापित की और स्तव-स्तोत्र द्वारा इन देव-देवियों की प्रार्थना की। इस प्रकार के प्रार्थना-संगीत में ही हम आदि

काल के साहित्य का रूप सभी देशों में पाते हैं। उस समय समाज को देवी, देवता, दैत्य, ऋषि आदि अतिमानव या महावीर योद्धाओं ने प्रेरणायें प्रदान की थीं, इसलिये साहित्य में इन्हीं का गुणगान गाया गया है। बाद में जब मनुष्य दलबद्ध हो कर रहने लगा और समाज-व्यवस्था का आरम्भ हुआ उस समय मनुष्य मनुष्य के बीच प्रभु और दास का संबन्ध था। अब प्रकृति और मनुष्य के बीच उतना संघर्ष नहीं रह गया जितना मनुष्य और मनुष्य के बीच। अब धर्म संगीत के बदले महाकाव्यों एवं आख्यायिकाओं की रचना होने लगी और उनका विषय हुआ असत् के ऊपर सत् की, अन्याय के ऊपर न्याय की विजय। मनुष्य ने अपने जीवन में सुख स्वाच्छन्द का अनुभव किया और अपने अन्तर के आनन्द को गीतिकाव्यों के माध्यम से सर्व प्रथम व्यक्त किया। समाज में श्रेणीभेद ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यो त्यों शासक श्रेणी के मन में आत्मप्रकाश की भावना जागरित होती गई। अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने के लिये वह चंचल हो उठी। अहंसर्वस्व जीवन को लेकर उसकी जय-यात्रा आरम्भ हुई और व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में जो सब विघ्न-वाधाएँ उपस्थित हुईं उनका अतिक्रमण करने के लिये उसने अदम्य संकल्प प्रकट किया। शेक्सपियर के नाटकों के चरित्रों की आलोचना करते हुए काडवेल ने दिखाया है कि उनमें प्रत्येक के नायक का जीवन अहंसर्वस्व है। आत्मप्रतिष्ठा के लिये वह व्याकुल हो उठा है। उसके जीवन में कर्ममुखरता एवं गतिशीलता है। प्रत्येक चरित्र के जीवन का स्पन्दन उसके विरोध, द्वन्द्व, हिंसा, प्रतिहिंसा, राग-द्वेष आदि में उच्छलित हो रहा है। सब प्रकार के बाधा-बन्धनों से विनिमुक्त होकर व्यक्तित्व का परिपूर्ण प्रकाश ही इस युग के साहित्य का वैशिष्ठ्य है। परवर्ती युग के साहित्य में भी हम यही बात पाते हैं। रोमाण्टिक युग के कवि एवं साहित्यिकों ने फरासीसी विप्लव के आदर्श से अनुप्राणित होकर इंगलैण्ड के प्रतिक्रियाशील राजतंत्र के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया था। इस युग के कवियों में विप्लव के प्रति स्पष्ट सहानुभूति देखी जाती है। इस समय एक ओर कल-कारखानों के स्थापित होने से जहाँ धनोत्पादन प्रचुर रूप में होने लगा था और साम्राज्य विस्तार के साथ साथ विदेशों के साथ संबन्ध व्यापक होने लगा था वहाँ दूसरी ओर मनुष्य-

मनुष्य के बीच जो स्वाभाविक मधुर संबन्ध है वह आर्थिक आदान-प्रदान के बढ़ जाने से विकृत होने लगा। इसका फल यह हुआ कि इस युग के साहित्य में एक ओर जहाँ साम्य, स्वाधीनता एवं मानवता का जयगान होने लगा वहाँ दूसरी ओर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो विकृत संबन्ध बढ़ रहा था उस पर नैराश्यजनित विलाप भी सुना जाने लगा। इस युग के वायरन, शेली, कीटस् आदि कवियों की रचनाओं में हम दोनों ही सुर पाते हैं। इन कवियों ने एक ओर जहाँ विप्लव के आदर्श का ज्वलन्त गान किया है वहाँ दूसरी ओर नागरिक सभ्यता के विरुद्ध विद्रोह की भी घोषणा की है। इन सब कवियों की कृतियों की समालोचना प्राचीन प्रणालियों पर करने से हम केवल इतना ही जान सकते हैं कि ये सब कवि रोमांटिक थे, रोमान्स किसे कहते हैं, इनकी रचनाओं में रस एवं सौन्दर्य्य का, संगीत एवं अलंकार का कहाँ तक समावेश है। किन्तु केवल इन सब बातों से आधुनिक पाठकों को तृप्ति नहीं हो सकती। ये सब कवि रोमाण्टिक क्यों हुए, काव्य-रचना में उन्हे कहाँ से प्रेरणायें मिलती थीं इन प्रश्नों का उत्तर हमें समालोचना की पुरानी पद्धति में नहीं मिल सकता। इसके लिये हमें यह जानना होगा कि किस युग में और किन परिस्थितियों में इन कवियों का जन्म और विकास हुआ था, उस युग की विचारधाराओं द्वारा वे कहाँ तक प्रभावित हुए थे। इन्हें उस युग का ही मनुष्य समझकर उस युग की परिस्थितियों के आलोक में इनके विचारों एवं भावों की क्रिया—प्रतिक्रिया पर विचार करना आवश्यक है। इस पद्धति पर यदि साहित्य की समालोचना की जाय तो वह मुट्ठी भर रसिक पाठकों तक ही सीमाबद्ध न रह कर बहुसंख्यक पाठकों के लिये सुलभ एवं बोधगम्य होगी और इससे कवि की कृतियों का सम्मान भी बढ़ेगा। यही मार्क्स दर्शन के आधार पर नूतन समालोचना-पद्धति है।

इस पद्धति से किसी कलाकार की कृतियों पर विचार करते समय हमें केवल उसकी प्रतिभा का ही ढिंढोरा नहीं पीटना होगा, बल्कि यह देखना होगा कि कौन सी वे परिस्थतियाँ थीं जिनमें इस प्रतिभा का पोषण एवं परिवर्द्धन हुआ था और उस युग में कौन सी वे शक्तियाँ थीं जिनसे कवि या शिल्पी को प्रेरणा एवं उद्दीपना प्राप्त हुई थी। नूतन पद्धति के आधार

पर समालोचना करनेवाले इस बात का स्मरण रखें कि पुरातन साहित्य का विचार उस युग की परिस्थिति की पृष्ठभूमि पर ही किया जा सकता है, नूतन युग की परिस्थिति की पृष्ठभूमि पर नहीं। पुरातन दृष्टि से नूतन का विचार और नूतन दृष्टि से पुरातन का विचार किया जाय यह मार्क्स को भी अभिप्रेत नहीं था। प्राचीन धनिक युग या सामन्त युग में—हिन्दी साहित्य के रीति काल में—जिस साहित्य की रचना हुई थी उसे यदि हम आज की नूतन परिस्थिति की तुलना में हेय या अवांछनीय सिद्ध करने की चेष्टा करें तो यह हमारी निरी मूर्खता होगी। प्रत्येक युग की परिस्थिति के आधार पर साहित्य की समालोचना करते समय हमें इस बात को भी स्मरण रखना होगा कि परिस्थिति से मार्क्स का अभिप्राय उसकी आर्थिक दिशाओं से ही नहीं बल्कि अन्यान्य समस्याओं से भी था, और इन समस्याओं का संबन्ध साहित्य एवं कला के साथ विशेष रूप में है यह भी मार्क्स बता गये हैं। आर्थिक विप्लव की वैज्ञानिक कसौटी पर साहित्य की समालोचना करना साहित्य के मूल स्वरूप के प्रति अज्ञानता प्रकट करना है। नूतन समालोचना-पद्धति का अभिप्राय है युगधर्म की पृष्ठभूमि पर साहित्य एवं शिल्प का यथार्थ परिचय प्राप्त करना।

आर्ट—कम्यूनिस्ट बनाम बुर्जुआ

साहित्य का राज्य ज्ञान या तत्व है, उसका धर्म रस की सृष्टि करना है, अतएव उसके साथ हमारे जीवन की दैनन्दिन घटनाओं का क्या सम्बन्ध हो सकता है, यह प्रश्न उठना अस्वाभाविक अथवा अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। साहित्य या कला के सम्बन्ध में अबतक यही धारणा प्रचलित रही है कि आर्ट का एक सार्वभौम विश्वरूप होता है, जो किसी जाति या देश विशेष की ऐतिहासिक परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न होता है। उसका सम्बन्ध केवल सौन्दर्य के कल्पनालोक से होता है। देश एवं काल के दूरत्व को तुच्छ करके, सभ्यता एवं संस्कृति की सीमा का अतिक्रमण करके श्रेणी एवं सम्प्रदाय से ऊपर वह अपनी महिमा से आप विराजित है। इस कलह-कालुष्यमय जगत्

के धूलि-धूम्र के स्पर्श से उसे दूर रखने में ही उसकी सार्थकता एवं गरिमा है। अपनी इस गौरव-गरिमा को अक्षुण्ण रखकर ही वह सब काल में सब देशों के रसपिपासु नर-नारियों को अपने चरणतल में आश्रय प्रदान कर सकती है और अपने उस अमृतरस का एक कण प्रदान करके उनके मर्त्य-जीवन में अमरता का आभास एवं स्वर्ग का आनन्द ला दे सकती है। कवि या कलाकार कल्पना के पंख लगाकर मायापुरी में विचरण करनेवाले जीव होते हैं। यह मायापुरी इस कोलाहलमय जगत् से बहुत दूर होती है, और उसमें कल्पना के सहारे विचरण करते हुए कलाकार के मन में जो अनुभूतियाँ जागरित एवं उद्दीप्त होती हैं, वे काल एवं स्थान सापेक्ष नहीं होतीं। "Great art remains stable and unobscure, because the feelings that it awakens are independent of time and place, for its kingdom is not of this world." (Clive Bell).

कला का कल्पना-लोक केवल ज्योत्स्ना-पुलकित यामिनी और शरदाकाश के तारे, बन के फूल और पक्षियों के कल कूजन, निर्झरिणी की कलकल ध्वनि और श्यामघन की शोभा, प्रेमिक-प्रेमिकाओं का मृदुलालाप एवं अभिसार तक ही सीमित है। तभी तो कर्मक्लान्त जीवन के रथचक्र से पिष्ट होकर जिस समय मानवात्मा वेदना-विह्वल एवं मूर्च्छित हो उठती है, उस समय आर्ट उसके कानों में संजीवन मंत्र सुनाकर उसके सन्तप्त हृदय को शीतल करती है। मनुष्य जब सब प्रकार का आशा-भरोसा खोकर, भय एवं आशंका से द्विधाग्रस्त हो जाता है, उस समय आर्ट ही उसे समस्त द्विधा एवं संशय से उर्ध्व ले जाकर उसके मन-प्राण को एक अपूर्व रस-माधुर्य से आप्लावित कर देती है।

किन्तु मार्क्सीय दर्शन ने जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में जिस प्रकार हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन कर दिया है, उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान कला एवं साहित्य के सम्बन्ध में भी। रूस के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में जहाँ अनेकानेक परिवर्तन हुए हैं, वहाँ आर्ट के स्वरूप एवं परिभाषा के संबंध में भी उसकी धारणा संपूर्ण रूप से परिवर्तित हो गयी है। इसके परिणाम

स्वरूप आर्ट के स्वरूप एवं आदर्श के सम्बन्ध में बुर्जुआ आर्ट और सोवियट आर्ट के बीच बहुत कुछ भेद-वैषम्य देखा जाता है।

कम्यूनिस्ट, आर्ट के सार्वभौम रूप को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि बुर्जुआ आर्टिस्ट जिस आर्ट को सार्वभौम कहकर उसकी वन्दना करते हैं, वस्तुतः उसका सार्वभौम रूप नहीं होता। उसका आधार साम्प्रदायिक होता है। वर्तमान समाज-व्यवस्था का आधार संपूर्णतया आर्थिक है, और आर्थिक वैषम्य के कारण एक श्रेणी विशेष को शिक्षा एवं संस्कृति की दिशा में अग्रसर होने का सुयोग एवं सुविधा मिलती है। यह श्रेणी विशेष ही समाज में उन्नत एवं अभिजात वर्ग समझा जाता है और जो लोग आर्थिक वैषम्य के कारण सब प्रकार की मानसिक योग्यता रखते हुए भी शिक्षा एवं संस्कृति की सुविधाओं को प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं, वही समाज में अनुन्नत एवं निम्न वर्ग के समझे जाते हैं। इसलिये यह सार्व जनीन आर्ट भी सुविधाप्राप्त उन्नत एवं अभिजात वर्ग की ही निजी संपत्ति होती है और उसी की संरक्षकता में इसका सम्पोषण एवं संवर्द्धन होता है। इस आर्ट से एक वर्ग विशेष की ही मनस्तुष्टि एवं मनोरञ्जन होता है। वर्ग-विशेष के लिये ही वह ग्राह्य एवं बोधगम्य होती है। जातीय जीवन के व्यापक क्षेत्र से उसका कोई सम्पर्क नहीं होता, इसलिये, उसके द्वारा वृहत्तर समस्याओं का समाधान नहीं होता, जीवन सम्बन्धी जटिल एवं दुरूह प्रश्नों का उसमें कोई उत्तर नहीं मिलता। सम्प्रदाय-विशेष के संकीर्ण स्वार्थक्षेत्र में इसका जन्म होता है और उसी वर्ग के पक्षपातपूर्ण आश्रय में इसका लालन-पालन होता है और उसीकी आशा-आकांक्षाओं की इसमें अभिव्यक्ति होती है। इसलिये स्वभावतः इसके मूल्य एवं महत्व का पारखी एकमात्र सुविधाप्राप्त वर्ग विशेष ही होता है और वही इसका क्रयशक्तिसम्पन्न ग्राहक भी होता है। अतएव इस प्रकार की कला स्वाधीन, स्वच्छन्द एवं स्वतः स्फूर्त हो ही नहीं सकती। वह तो वर्ग विशेष की आशा-आकांक्षा, रुचि एवं मनोवृत्ति को लेकर ही चलेगी, वह तो राज दरबार के आश्रय में लालित पालित कला की तरह अपने प्रभु का मनोरञ्जन करना ही अपना परम उद्देश्य समझेगी। "Art is really the art of a class. Artists are not universal,

catholic, clasless, if they are not doing propaganda for capitalism they are giving Bourgeoisie the art it likes and can understand, and which allows it to go complacently the way it is going." —" Red Virtue". अर्थात् कला वास्तव में एक श्रेणी विशेष की वस्तु है। कलाकारों का रूप सार्वभौम, उदार श्रेणीहीन नहीं होता। यह सच है कि वे पूंजीवाद के पक्ष में प्रचार कार्य नहीं करते, किन्तु साथ ही वे धनिक वर्ग को ऐसी कलात्मक कृतियाँ प्रदान करते हैं, जो उसकी रुचि के अनुकूल होती हैं, जिन्हें वह समझ सकता है और जो उसे निश्चिन्त होकर जीवन यापन करने में सहायता पहुँचाती है।

एक बात और है। बुर्जुआ आर्टिस्ट, आर्ट के सार्वभौम रूप को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही इसके इस बात को वे नहीं मानते कि आर्ट सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य एवं उपभोग्य हो सकती है। उनकी बराबर से यह धारणा रही है कि कलात्मक कृतियों को हृदयङ्गम करके उनका रसास्वादन करनेवाले सभी युगों में मुट्ठी भर मनुष्य ही रहे हैं और रहेंगे। सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तु कला कभी बन ही नहीं सकती। तो, फिर आर्ट का सार्वभौम रूप कैसा? इसके उत्तर में उनका कहना है कि कला को हम सार्वभौम एवं सार्वजनीन इस अर्थ में मानते हैं कि सभी काल में और सभी देशों में जाति, रंग, धर्म-निर्विशेष ऐसे कुछ लोग होंगे, जो विशुद्ध सौन्दर्य-प्रेम एवं रसबोध की दृष्टि से कला के समीक्षक एवं उपभोक्ता होंगे। कला के अन्तर में जो निहित सौन्दर्य होता है, उसमें जो सुषमा एवं सुकुमारता होती है, वही उनकी दृष्टि में बोधगम्य एवं उपभोग्य होती है। जो कला के इस अन्तर्निहित सौन्दर्य एवं सौकुमार्य के पारखी नहीं होते, वे ही उसके स्थूल एवं बाह्य रूप को लेकर वाद-विवाद करते हैं। ये सच्चे कला-पारखी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जाति, धर्म या देश विशेष की भावना से प्रेरित होकर वे कला की समीक्षा करते हैं। इनका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिये इनके मत से आर्ट साधारण जनता की समझ और परख

से जितनी ही उर्ध्व होगी, दोनों के बीच व्यवधान जितना ही विस्तृत होगा, उसकी महत्ता एवं गौरव-गरिमा उतनी ही अधिक होगी।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बुर्जुआ आर्टिस्ट सर्वसाधारण को आर्ट के उपयोग एवं रसास्वादन से सर्वथा वंचित रखना चाहते हैं। वे केवल इतना ही चाहते हैं कि आर्ट का आदर्श अक्षुण्ण बना रहे। जनसाधारण की रुचि एवं मनुस्तुष्टि का वह साधन नहीं बने। आर्ट को लोकप्रिय बनाने के लिये जनता की रुचि पर ध्यान रखकर यदि उसकी सृष्टि की जायगी तो आर्ट अपने उच्चासन से अवनमित हो जायगी, उसकी सुषमा एवं गरिमा क्षुण्ण हो जायगी और उसमें सौन्दर्य, सौकुमार्य एवं रसबोध की मात्रा न्यून हो जायगी। इसलिये आर्ट को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा न करके जनसाधारण की रुचि एवं विचार-बुद्धि को ही परिष्कृत एवं सूक्ष्म बनाना चाहिये—"Art should never try to be popular. The Public should try to make itself artistic." (Oscar Wilde)

कम्यूनिस्ट कलाकार आर्ट के इस आभिजात्य को भ्रान्त समझ कर उसकी इस परिभाषा एवं संज्ञा को स्वीकार नहीं करते। उनका विश्वास है कि वास्तव जगत् में जन-साधारण के बीच जिसका जन्म न होकर कल्पना-लोक में जन्म हुआ है, जीवन की जटिल समस्याओं की मीमांसा न करके जो केवल स्वप्न-जाल बुना करती है, जो अपने पोषण के लिये इस पृथ्वी से रस-ग्रहण न करके शून्य में विचरण करती है, उसका स्वच्छन्द एवं स्वस्थ विकास कभी हो ही नहीं सकता और न वह जनसाधारण के लिये प्रयोजनीय बन सकती है। लेनिन के मत से—"Art belongs to the people. It must have its deepest roots in the broad mass of the workers. It must be understood and loved by them. It must be rooted in their feelings, thoughts and desires. It must arouse and develop the artist in them." अर्थात् कला सर्वसाधारण की वस्तु है। विशाल श्रमजीवी सम्प्रदाय के साथ इसका घनिष्ठतम सम्पर्क होना चाहिये। इसे जनता की रुचि के अनुकूल एवं बोधगम्य होना चाहिये। जनता के विचार, आशा,

आकांक्षा एवं भावनाओं के बीच उसकी जड़ होनी चाहिये। जनता के अन्तर में कलाकार का जो रूप निहित है, उसे जागरित एवं विकसित करना कला का उद्देश्य होना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्ट के स्वरूप एवं तात्पर्य को लेकर बुर्जुआ और कम्यूनिस्ट कलाकारों में गम्भीर मतभेद है। एक दल का कहना है कि कला समस्त धर्म, नीति, आदर्श एवं मतवाद से परे होती है। उसका आसन इन सबसे परे है। वह किसी आदर्श या मत विशेष का प्रचार नहीं करती, व्याख्या नहीं करती। वह तो भावों की व्यञ्जना भर करती है। उसका विकास स्वतः स्फूर्त होता है, उसकी लीला सहज एवं स्वच्छन्द होती है। वह हमें विशुद्ध आनन्द प्रदान करती है। हमारे सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध को परितृप्त करती है और रस का परिवेशन करती है। इस रूढ-कर्कश वास्तव जगत् के कालुष्य से उर्ध्व ले जाकर वह हमें अतीन्द्रिय जगत् के अमृतत्व का आभास दिलाती है और अपने सरस स्पर्श से हमारे मन-प्राणों को पुलकित कर देती है। जैसा कि Clive Bell ने लिखा है:—

"Art transports us from the world of men's activity to a world of aesthetic exaltations. For a moment we are shut off from human interests; our anticipations and memories are arrested; we are lifted above the stream of life" आर्ट जब अपने महत् उद्देश्य से भ्रष्ट होकर किसी मतवाद के प्रचार का साधन बन जाती है, तब वह उच्च कोटि की कला नहीं कही जा सकती। जो कलाकार मनुष्य के मनोभावों को लेकर क्रीड़ा करते हैं, वे निश्चय ही कला का दुरुपयोग करते हैं। यह दुरुपयोग वैसा ही है, जैसा कि समाचारपत्र पढ़ने के लिये टेलिस्कोप का व्यवहार करना। "To use art as a means to the emotions of life is to use telescope for reading the news."

किन्तु कम्यूनिस्ट कलाकारों का मत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके मत से आर्ट का उद्देश्य स्वप्न-लोक की मायापुरी में ले जाकर अकारण पुलक की

मृदु सिहरन सृष्टि करना नहीं है। उन्होंने आर्ट को कल्पना-लोक से नीचे लाकर वास्तव जगत् की जटिल समस्याओं के बीच प्रतिष्ठित किया है और जनसाधारण के वास्तव जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन के साथ उसे संयुक्त कर दिया है 'Art in Soviet union has several tasks. It must reflect the new life, express the new people. It must seek to activize the masses. 'Art for art's sake' has been ruled out. Art, like science, must consciously serve a social purpose. (ilya winter) अर्थात् सोवियेत रूस में आर्ट के उद्देश्य अनेक हैं। उसमें नूतन युग के मनुष्य की, उसके नूतन जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। उसका लक्ष्य होना चाहिये जनसाधारण में कर्मण्यता का संचार करना। 'कला-कला के लिये' वाला सिद्धांत सोवियत यूनियन में मान्य नहीं रह गया है। विज्ञान की तरह कला का उद्देश्य भी किसी सामाजिक स्वार्थ की सिद्धि होना चाहिये।

कला के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत केवल राजनीतिज्ञों का ही हो सो बात नहीं है, स्वयं कम्यूनिष्ट कलाकार भी इसी प्रकार का मत पोषण कर रहे हैं। कई साल पहले सोवियत रूस के कलाकारों का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें यह सिद्धान्त निश्चित हुआ था और इसकी घोषणा की गयी थी :—
"The artist must be a citizen, must conseiously strive for the ideals the whole state is struggling to achieve. Literature and art are a mighty weapon which sways the consciousness of millions of people. This weapon should be wielded more deliberately than hitherto to, smite our enemies to struggle for peace." अर्थात् कलाकार को भी एक नागरिक बन कर उसी आदर्श की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, जिसके लिये सम्पूर्ण राष्ट्र प्रयत्नशील हो रहा है। साहित्य और कला ऐसे शक्तिशाली साधन हैं, जिनके द्वारा लाखों मनुष्य के अन्तर को आलोकित किया जा सकता है।

इसलिये इस साधन का उपयोग और भी जान बूझ कर हमारे शत्रुओं का विध्वंस करने और शान्ति की स्थापना करने के लिये होना चाहिये।

किन्तु आर्ट के सम्बन्ध में सोवियट कलाकारों के इस मनोभाव से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बुर्जुआ आर्ट में जो सौन्दर्य, जो सौकुमार्य एवं सूक्ष्म रसानुभूति है, उसकी वे संपूर्ण उपेक्षा कर देना चाहते हैं। इसके विपरीत उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य की महत्ता को वे मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। स्वयं राष्ट्रगुरु लेनिन ने इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत इस प्रकार व्यक्त किया है:—"We must retain the beautiful, take it as an example, hold on to it even though it is old. Why turn away from the real beauty, just because it is old, why worship the new as the God to be obeyed just because it is the new? That is nonsense: sheer nonsense." अर्थात् जो सुन्दर है, वह पुरातन होने पर भी हमारे लिए मान्य होना चाहिये। जो वास्तव में सुन्दर है, उसकी उपेक्षा केवल हम इसलिये ही क्यों करें कि वह पुरातन है? नूतन को केवल नूतन समझ कर ही हम उसकी उपासना क्यों करें? ऐसा करना निरी मूर्खता होगी।

इससे यह स्पष्ट है कि जो वास्तविक सुन्दर है, उसके प्रति अनुराग-प्रदर्शन एवं श्रद्धा-निवेदन करने में कम्यूनिष्ट कलाकार कुण्ठित नहीं होते। कलाकार ही क्यों, सोवियट रूस की जनता में भी इस प्रकार का सौन्दर्य-ज्ञान एवं रसबोध प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। तभी तो शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय वहाँ लगातार हफ्तों तक चलते रहते हैं और सर्वसाधारण जनता लाखों की संख्या में उपस्थित होकर उससे आनन्द लाभ करती है। रूस के पुराने कलाकार पुश्किन, चेकोब, टाल्सटाय आदि की कृतियों के सैकड़ों नये-नये संस्करण निकल रहे हैं, और जनता उन्हें बड़े चाव-से पढ़ती है।

प्रगतिशील साहित्य

प्रत्येक युग में, प्रत्येक काल में साहित्य मनुष्य के जीवन को सत्य रूप में प्रभावित एवं अनुप्राणित करता आ रहा है। साहित्य ही बराबर हमारे नित्य के जीवन का सहचर रहा है। साहित्य हमारे वास्तविक जीवन की शक्तिधारा, विचारों का उत्स एवं प्राणों का प्राण है। साहित्यविहीन जातीय जीवन का अर्थ है जाति की स्थविरता, जड़ता एवं पंगुता। इसलिए हमारे वास्तव जीवन के साथ साहित्य का संबधसूत्र कभी छिन्न होने न पावे इस ओर ध्यान रख कर ही हमें साहित्य-सृष्टि के कार्य्य में प्रवृत्त होना पड़ेगा। वस्तुतः साहित्य में हमें जो रस मिलता है, आस्वाद मिलता है वह इसलिए कि उसकी मूलगत अनुप्रेरणा हमारे व्यावहारिक जीवन के साथ संश्लिष्ट होती है। युग-युग में हम साहित्य के रूप में जो परिवर्त्तन देखते आ रहे हैं वह क्यों ? इसलिए कि साहित्य, दर्शन, नीति,धर्म आदि मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के जो सर्वश्रेष्ठ सम्पद् हैं उनका घनिष्ठ संबन्ध समाज के साथ रहा है। समाज-निरपेक्ष इनकी कोई सार्थकता नहीं। समय-समय पर मानव समाज के जो उत्थान-पतन हुए हैं उनके साथ साहित्य का भी नाना रूपों में निर्माण हुआ है। परिवर्त्तन से होकर जिस प्रकार मनाव-समाज क्रमशः प्रगतिशील हो रहा है उसी प्रकार इस परिवर्त्तन की धारा को ग्रहण करके साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान भी विकसित एवं परिवर्त्तित हो रहे हैं। जो लोग यह समझते हैं कि साहित्य का क्षेत्र मनुष्य की व्यक्तिगत भावना, कल्पना एवं अनुभूति तक ही सीमाबद्ध है और समाज की ऐतिहासिक परिस्थिति से उर्ध्व उसका एक सार्वभौम विश्वरूप होता है उन्हें यह भूलना नहीं चाहिए कि साहित्य यदि एकमात्र व्यष्टि की ही सृष्टि होता और उसमें समग्र समाज की समष्टिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं होती तो उसका रस सभी सहृदय जनों के लिए आस्वादनीय नहीं होता। साहित्य का मूल समाज के ऐतिहासिक परिवर्त्तन के साथ-साथ परिवर्त्तनशील सुख-दुःख की अनुभूतियों में निहित रहता है, और यही कारण है कि सामाजिक मनुष्य बाह्य जगत के सुख-दुख की अपेक्षा साहित्य में वर्णित सुख-दुख की वेदना से विशेष रूप

में प्रभावित होता है और साहित्य-रस का आस्वादन करके एक अतृप्त आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु समाज के इस ऐतिहासिक परिवर्त्तन की धारा मूलतः वस्तुवादी एवं व्यावहारिक है; इसलिए साहित्य का संबन्ध कभी अवास्तव या अलौकिक कल्पना से हो ही नहीं सकता। हमारे वास्तव जीवन की नित्य की घटनाओं के साथ उसका जो मौलिक संबन्ध है उस संबन्ध को अस्वीकार करना प्रतिक्रियाशील मनोवृत्ति का परिचय देना है।

साहित्य के साथ समाज का घनिष्ट संबन्ध मानते हुए भी अनेक प्राचीन पंथी समालोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते कि समाज-विवर्त्तन के फल-स्वरूप साहित्य में भी विवर्त्तन एवं रूपान्तर होते हैं। किन्तु उनके इस मत के पीछे युक्तिनिष्ठा की अपेक्षा पक्षपात का भाव ही अधिक देखा जाता है। वस्तुतः यदि समाज और साहित्य के योगसूत्र को हम स्वीकार कर लेते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि समाज में जिस क्रम से विवर्त्तन होता है उसका प्रतिफलन साहित्य में भी होता है। और समाज में यह विवर्त्तन जिन स्वाभाविक नियमों के आधार पर होता है उनकी सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याख्या मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति या Dialectic द्वारा हुई। मार्क्स के इस द्वान्द्वात्मक वस्तुवाद ने समाज-विवर्त्तन के इतिहास में एक संपूर्ण अभिनव चिन्ताप्रणाली का जन्म दिया। इससे पहले समाज के ऐतिहासिक विवर्त्तन का मूल सूत्र जहाँ हम किसी अदृश्य या अपार्थिव शक्ति में ढूँढ़ते थे वहाँ मार्क्स ने हमें यह बताया कि अब तक समाज के रूप में जो परिवर्त्तन एवं विवर्त्तन हो रहे हैं उनके मूल सूत्र का सन्धान हमें उस समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति में, उसकी धनोत्पादन-प्रणाली में ही मिलेगा। जिस क्रम से धनोत्पादन-प्रणाली में परिवर्त्तन हुए हैं उसी क्रम से समाज के रूप में विवर्त्तन हुआ है और उसकी छाप साहित्य, धर्म, नीति एवं दर्शन पर भी पड़ी है, क्योंकि ये सब भी प्रचलित समाज-व्यवस्था के ही परिणामस्वरूप हैं। जिस युग में, जिस काल में समाज की जैसी विचारधारा, उसकी जैसी प्रवृत्ति एवं रुचि रही है उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा है। मानव-समाज चिरन्तन नहीं। काल के अनन्त प्रवाह में युग के बाद युग बीतते जा रहे हैं और उसके साथ समाज का रूप परिवर्त्तित होता जा रहा है। जिस दिन

समाज-व्यवस्था की सृजनशक्ति क्षीण हो जाती है उसी दिन से उसकी जड़ में घुन लगना शुरू हो जाता है, और उसके अन्दर जो उत्पादन-शक्ति निहित होती है वह उस पुरातन जराजीर्ण समाज को भंग करके नूतन समाज के रूप में अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रकट करती है। इसी प्रकार बराबर से पुरातन के चिताभस्म पर नूतन की सृष्टि होती आ रही है। एक ओर पुरातन-समाज की मृत्युकालीन म्लानता, क्षीणता एवं उर्ध्वश्वास और दूसरी ओर नूतन समाज के जन्म की प्रसववेदना। मृत्यु की वेदना और नवजन्म के आनन्द के इस सन्धिक्षण में ही समाज रूप ग्रहण करता है। इसी प्रकार समाज की गतिशीलता, उसका प्राणप्रवाह चलता रहता है। समाज में जब तक सृजन-शक्ति सतेज रहती है तब तक उसके द्वारा जिस साहित्य की सृष्टि होती है उसके ऊपर प्रगति की छाप होती है, उसमें सजीवता होती है, प्राणों का स्पन्दन एवं कल हिल्लोल होता है। क्योंकि उस समाज के अन्दर प्राण-प्राचुर्य फेनिल होता रहता है।

अंगरेजी साहित्य में रानी विक्टोरिया का युग उसका स्वर्णकाल समझा जाता है। उस युग में साहित्य, शिल्प एवं विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई। काव्य, उपन्यास, नाटक, दर्शन सभी क्षेत्रों में प्रतिभा की बाढ़-सी आ गई। क्यों? इसलिए कि यह युग धनतांत्रिक समाज का पूर्ण विकसित युग था। उस युग में धनतांत्रिक समाज-व्यवस्था ने मनुष्य के जीवन को सब प्रकार से समृद्ध एवं संपन्न बना दिया था। पृथिवीव्यापी साम्राज्य की प्रतिष्ठा, उपनिवेश-स्थापन; वाणिज्य-विस्तार, नव-नव यंत्रों के आविष्कार एवं प्रयोग के फलस्वरूप धनोत्पादन में अपूर्व वृद्धि, धनतांत्रिक समाज के ये सब श्रेष्ठ दान थे जिनकी बदौलत सर्वसाधारण जन के जीवन में सुख-स्वाच्छन्द्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई, और उसी का निदर्शन उस समय के साहित्य एवं शिल्प द्वारा हुआ। पूँजी-वादी समाज की छाया में उसके वरद हस्त के नीचे उस समय के साहित्य का परिपोषण एवं परिवर्द्धन हुआ जिससे धनतांत्रिक समाज की प्राणधारा का प्रकाश उसमें परिस्फुटित हो उठा। उस समय तक धनतांत्रिक समाज गतिशील था, इसलिए उस समय के साहित्य में भी प्रगतिशीलता थी, प्राणप्राचुर्य था। यद्यपि इस साहित्य के बहुमुखी विकास का आधार था अगणित श्रमजीवियों

का श्रमशोषण। यह साहित्य था ऐश्वर्यसंपन्न विलासी धनिक समाज के मनोरंजन एवं अवसर-विनोदन का साधन। Mr. H. G. Wells के शब्दों में harmiess opiate for vacant hours and vacant mind. इसी साहित्य के संबन्ध में दुःख प्रकट करते हुए हक्सले साहब ने कहा है :—The leisured class take up art for the same reasons as they take up bridge—to escape from boredom ; With sport and love-making art helps to fill up the vacuum of their existence. इस साहित्य में हमें उस समय के धनिक समाज का ही चित्राङ्कण मिलता है। वह धनिक-समाज वाणिज्य-व्यवसाय की बदौलत देश-विदेश से सम्पत्ति आहरण करके अपने विलास-व्यसन को चरितार्थ कर रहा था। नए-नए कल-कारखाने खुल रहे थे। व्यवसायों में लाभ की मात्रा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। पिछड़े हुए देशों में Finance capital की आमदनी हो रही थी और business-magnates की संख्या में वृद्धि हो रही थी। वाणिज्य-व्यवसाय और कल-कारखानों का कोलाहलपूर्ण जीवन, उसकी गतिशीलता ही उस समय के साहित्य में मुखरित हो रही थी। उस समय इस धनिक-समाज की उत्पादन-शक्ति अक्षुण्ण थी, उसमें नवोद्भाविनी क्रियाशीलता थी, इसलिए उस समय के साहित्य में भी नवजागरण का सुर था, सजीवता एवं सबलता थी।

मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के भाण्डार में धनतांत्रिक समाज के जो अमूल्य दान हैं उन्हें कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सामन्तवादी समाज के विरुद्ध जिस दिन बुर्जुआ समाज ने युद्ध घोषणा की थी उस दिन विप्लव की प्रचण्ड शक्ति इसके अन्दर काम कर रही थी। इसके द्वारा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उन्नति हुई। साहित्य में राष्ट्रीयता के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रकाश भी प्रस्फुटित हुआ और इसके परिणाम स्वरूप विश्वसाहित्य की सृष्टि हुई।

धनतांत्रिक समाज में धनोत्पादन-प्रणाली के परिणाम स्वरूप जो सब शक्तियाँ उत्पन्न हो रही थीं उनके द्वारा जब समाज के कल्याण का मार्ग निःशेष हो गया तब प्रगति के पथ में इसने साम्राज्यवाद का रूप धारण किया।

अब तक स्वदेश के श्रमिकों का शोषण करके जो समाज परिपुष्ट हुआ था उसका नागपाश अब अफ्रिका, चीन, भारत, दक्षिण अमेरिका आदि देशों में फैलने लगा। इस नागपाश में क्रमशः आबद्ध होकर इन सब देशों के असंख्य मनुष्य भारवाही पशु के रूप में परिणत हो गये। धनोत्पादन की मशीन बन कर वे धनिकों की ऐश्वर्य्यशालिता एवं विलासिता में वृद्धि करने लगे। निर्लज्ज एवं निष्ठुर रूप में दुर्बल एवं पराधीन जातियों का रक्तशोषण आरम्भ हुआ। साम्राज्यवाद का रथचक्र दुर्धर्ष गति से आगे बढ़ने लगा और उसके नीचे कोटि-कोटि मनुष्यों के दम घुटने लगे। एक ओर मुट्ठी भर लोगों के हाथ में देश के समस्त वाणिज्य-व्यवसाय केन्द्रीभूत होने लगे और दूसरी ओर करोड़ों मनुष्य सर्वस्वहीन बन कर दिन-रात अपने लहू को पसीना बनाकर समाज के लिए अशेष सम्पद् की सृष्टि करने लगे। उनके लिए क्षुधातुर पुत्र-कन्या, रुग्ण स्त्री और दाहिने हाथ के सिवा अपना कहने के लिए और कुछ नहीं रह गया। साम्राज्यवाद के ऐश्वर्य्य, औद्धत्य एवं बाह्य आडम्बर की छाप उस समय के साहित्य पर भी अंकित हुई।

साम्राज्यवादी धनतांत्रिक देशों में उपनिवेशों को लेकर जो प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हुई उसके परिणामस्वरूप विगत महासमर का जन्म हुआ। उग्र जातीयतावाद के नाम पर धनिक समाज ने एक देश के हतभाग्य सर्वहारा को जो अभी तक पूर्ण रूप से श्रेणी सचेतन नहीं हुआ था—दूसरे देश के सर्व-हारा के विरुद्ध उत्तेजित करके युद्ध के दावानल में ठेल दिया। लाखों मनुष्य नरमेध यज्ञ में आहुतियाँ पड़ने लगे। उस समय के काव्य, उपन्यास, नाटक, धर्म, नीति सब में इस उत्कट जातीयतावाद का, इस नृशंस नरमेध यज्ञ का, इस आसुरिक रक्तलोलुपता का गौरवमय गान होने लगा। धनिक वर्ग के स्वार्थ की बलिवेदी पर रक्त की नदी बह चली। बड़े-बड़े नगर, कल-कारखाने नष्ट-भ्रष्ट हो गए। समाज में विश्रृङ्खला उत्पन्न हो गई। और इसके साथ-साथ धनिक-समाज की नींव भी काँप उठी। महायुद्ध-काल में जिस प्रकार विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष हुआ था उसी प्रकार विभिन्न जातियों के सर्वसाधारण जन को रणक्षेत्रों में परस्पर मिलने और परिचित होने का मौका भी मिला। विचारों के आदान-प्रदान से उन्हें इस बात का भी कुछ-

कुछ ज्ञान होने लगा कि किस प्रकार विभिन्न देशों का धनिक वर्ग अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर उन्हें आहुतियाँ देकर अपनी धनार्जन-वृत्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस चैतन्योदय के फलस्वरूप प्रत्येक देश में शोषित वर्ग के उत्थान की कलध्वनि गूँजने लगी। किन्तु शोषित वर्ग के इस नव जागरण का, उसके चैतन्योदय का चरम रूप देखा गया जारशाही रूस के बोल्शेविक विप्लव में। धनिक समाज की इमारत धराशायी हो गयी। शासन एवं शोषण की हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ छिन्न भिन्न हो गयीं और शोषित वर्ग की रक्त जय-पताका आकाश में फहराने लगी। मानव-सभ्यता के इतिहास में नव युग का आरम्भ हुआ। नूतन मानव समाज एवं नूतन मनुष्य की जययात्रा का पाञ्च-जन्य उद्‌घोषित हो उठा। अत्याचारियों के हृदय भय से काँप उठे, उनके रोम-रोम में सिहरन होने लगी। शोषित एवं निपीड़ितों के भग्न हताश हृदय में नूतन आशा का संचार हुआ। उनके मानस-चक्षु के समक्ष नव ज्योति के दर्शन हुए। धनिक वर्ग का अब सारी दुनिया पर एकछत्र अधिकार नहीं रह गया। धनिकतंत्र और समाजतंत्र इन दो मतवादों को लेकर मानव-समाज के बीच पार्थक्य की एक स्पष्ट रेखा खिंच गयी। एक ओर साम्यवादी समाज की जययात्रा, उसका विजयाभियान शुरू हुआ और दूसरी ओर जराजीर्ण, अवसादग्रस्त पूँजीवादी समाज का अवसान-काल सन्निकट होने लगा। साहित्य में भी इसकी प्रतिक्रिया देखी जाने लगी।

युद्ध के पूर्व के साहित्य की पृष्ठभूमि में जीवन की जो सरलता, स्निग्धता एवं मधुरता देखी जाती थी वह अब नहीं रह गयी। जीवन के सूत्र भी छिन्न-भिन्न हो गये। धनिक समाज की क्रमवर्धमान् क्षीणता, उसकी सृजनी शक्ति का ह्रास देखकर उसकी पृष्ठपोषकता में लालित-पालित साहित्यिकों के मन में कोई आशा-भरोसा नहीं रह गया। जड़ता, पंगुता एवं वार्द्धक्यजनित शिथि-लता के कारण धनिक समाज क्षयिष्णु बनकर अपने नाश की अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगा। उसके दिन अब निःशेष हो चले। जिस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप सामन्ततंत्र का अवसान घटित हुआ था वही अन्तर्द्वन्द्व आज पूंजीवादी समाज के शरीर में भी कीटाणु बनकर उसका क्षय कर रहा है। कारण पूंजीवादी समाज ने अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचकर समाज के अन्दर जिन सब

जटिल समस्याओं की सृष्टि कर दी है उनके समाधान का कोई मार्ग उसे सूझ नहीं पड़ रहा है। श्रेणीभेद, अन्याय, अविचार, निष्ठुर, लोभ, शासन एवं शोषण के आधर पर अवस्थित होने के कारण क्रमशः शक्तिशाली श्रमिक वर्ग के साथ संघर्ष में उसकी पराजय निश्चित है।

निर्वाण के पूर्व दीप जिस प्रकार एक बार प्रोज्वल रूप में प्रकाशित हो उठता है उसी प्रकार पूँजीवादी समाज, गणतंत्र, स्वाधीनता एवं समता का नकाब दूर कर नग्न बर्बरता के रूप में फासिज्म और नात्सीवाद में चमक उठा। फासिस्ट-बर्बरता का निर्लज्ज रूप सभ्यता एवं संस्कृति के ऊपर आक्रमण करके प्रकट किया जाने लगा। कवि, साहित्यिक, शिल्पी, दार्शनिक, वैज्ञानिक किसी की भी फासिस्ट कुठाराघात से रक्षा नहीं हुई। संस्कृति के बदले बारूद और बन्दूक की पूजा होने लगी। हजारों की संख्या में साहित्यिक एवं शिल्पी जेलों में या बन्दी-शिविरों में बन्द कर दिए गए, और हजारों ने स्वदेश से भाग कर किसी प्रकार आत्म-रक्षा की। साहित्य, संस्कृति एवं कला के लिए फासिज्म मृत्यु का वाहन बन कर आया। Fascism is the death of culture. इसी समय संसार भर के निर्वासित साहित्यिकों ने संघ-बद्ध होकर फासिज्म के विरुद्ध साहित्यिक-संग्राम चलाने की आवश्यकता महसूस की, और इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य—संघ का जन्म हुआ।

पूँजीवादी समाज के ऊपर आसन्न इस घनीभूत संकट की प्रतिक्रिया साहित्य-क्षत्रे में भी प्रकट हुई। साहित्य में अब नव प्रतिभा का उन्मेष विरल हो चला। इसके स्थान पर हताशा, व्यर्थता एवं दैन्य का चित्र साहित्य में प्रकट होने लगा। विभिन्न देशों के साहित्यिक अन्धकार में हाथ टटोलने लगे। भविष्य के लिए उन्हें कोई मार्ग स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ने लगा। जिस समाज से अब तक उन्हें साहित्य-सृष्टि के लिए प्रेरणा मिलती आ रही थी उस समाज-व्यवस्था में अब उन्हें आस्था नहीं रह गयी। उसकी अन्तः सारशून्यता, उसकी भौतिक दुर्बलता, उसका अन्यायरूप उनसे छिपा नहीं रह गया। फिर भी पुरातन समाज-व्यवस्था के प्रति मोह के कारण वे नवागत समाज के आशापूर्ण उज्ज्वल रूप की ओर अपनी दृष्टि निबद्ध नहीं कर सके। उनकी वाणी में केवल

नैराश्य एवं हा-हताश की ध्वनि प्रतिध्वनित होने लगी। कहीं मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति वैराग्य, कहीं वर्त्तमान से असन्तोष, भविष्य के प्रति अविश्वास, कहीं मृत्यु की करुण रागिनी और कहीं विलाप की कातरोक्ति। इसी समय साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद आदि के नाम से विभिन्न मतवादों का जन्म हुआ जिनमें वास्तव जीवन की रूढ़ता एवं विषमता से निराश होकर एक कल्पित अपार्थिव जीवन का आश्रय ग्रहण करने की प्रवृति देखी जाने लगी। किसी ने वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति के ध्वंसोन्मुख रूप को देखकर अतीत काल के ग्रामीण सहज-सरल जीवन का गुणगान करना शुरू किया, तो किसी ने वास्तव जगत के संघर्ष एवं कोलाहल से परित्राण पाने के लिये आध्यात्मिक अथवा अतीन्द्रिय जगत की कल्पना की। उधर बुद्धिजीवी सम्प्रदाय के मुखपात्र एच० जी० वेल्स जैसे महापण्डित बुद्धिजीवी समुदाय द्वारा मानव-समाज के पुनरुद्धार का स्वप्न देखने लगे। किन्तु हाय! यहाँ भी उन्हें धनिक समाज के शासकों की कुटिल चालों के कारण पग-पग पर विपर्य्यस्त होना पड़ रहा है—उन्हीं के शब्दों में We had to be outwitted, cheated, discredited and frustrated. तभी तो इस कटु अनुभव के कारण विरक्ति के स्वर में आप कहते हैं। "It made me waver towards the dogma of class-war."

चतुर्दिक्व्यापी इस नैराश्य, व्यर्थता, शून्यता एवं अन्धकार के बीच भी मानव-समाज के उज्जवल भविष्य का क्षीण प्रकाश देखनेवाले कुछ ऐसे तरुण साहित्यिक सभी देशों में वर्त्तमान हैं जो साहित्य में एक बलिष्ठ, सतेज एवं आशावादी सुर का संचार कर रहे हैं। वे प्रचलित समाज-व्यवस्था एवं साहित्य-परम्परा के सामने नतमस्तक एवं नतजानु होकर अपनी बुद्धि की स्वतंत्रता का विसर्जन करने के लिए तैयार नहीं। इस श्रेणी के तरुण साहित्यिक एक सजीव आदर्श को अपने मार्ग का सम्बल बनाकर साहित्य-रचना में अग्रसर हो रहे हैं। उनका वह आदर्श है श्रेणीहीन मानव-समाज। उनका जीवन-दर्शन है अखिल मानव का कल्याणबोध। उनकी बलिष्ठ लेखनी से आज जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है उसमें हमें जीवन की हताशा नहीं, कल्पना-विलास नहीं, बल्कि वास्तव जीवन का सहज, सरल चित्र मिलता है।

इस साहित्य में हमें मनुष्य के सामाजिक जीवन का वह रूप मिलता है जिसमें वह समाज के सहस्त्रों विधि-निषेधों द्वारा सीमाबद्ध है, समाज के आर्थिक एवं परिपार्श्विक बन्धनों में उसका व्यक्तित्व कुण्ठित है। साहित्य मनुष्य की अर्थनीतिक अवस्था का, व्यष्टि के साथ समष्टि के संघात का रूप है—यह बात अतीत काल के साहित्य या समालोचना में विशेष रूप से नहीं पायी जाती। किन्तु आधुनिक युग के साहित्य में यह धारणा अत्यन्त प्रबल हो रही है। समाज की अर्थ-नीति, धनोत्पादन की प्रणाली और धनवितरण के साथ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन का अति घनिष्ट संबन्ध है। इस तथ्य पर विशेष रूप से जोर देने के करण ही वर्त्तमान युग का साहित्य एकबारगी वास्तववादी बन गया है। वह मनुष्य की पारिपार्श्विक अवस्था और मानव-मन के ऊपर उसकी प्रतिक्रिया की परीक्षा करता है। प्राचीनकाल के साहित्य में मानव-चरित्र का सुधार करने के लिए नीति-धर्म के उपदेश दिये जाते थे। किन्तु आधुनिक साहित्य के नीतिज्ञों का कहना है कि नीति का मूल सामाजिक अवस्था में ही निहित रहता है। इसलिए नीति का परिवर्त्तन करने के पहले समाज का आमूल परिवर्त्तन करना होगा। नीति ईश्वर की दी हुई वस्तु नहीं है और न वह समाज निरपेक्ष है। इसलिए वर्त्तमान साहित्य में दिखलाया गया है कि नीति का आधार समाज की सुविधा-असुविधा नहीं है। समाज के जिस श्रेणी का जिस युग में आधिपत्य रहा है उसने अपनी सुविधाओं पर, अपने स्वार्थ एवं विशेषाधिकारों पर ध्यान रख कर नीतिवाक्यों की रचना की है और उनके ऊपर धर्म का लेबुल लगा दिया है। मनुष्य नीति का अनुगामी नहीं है, नीति ही मनुष्य की अनुगामिनी है।

आधुनिक साहित्य में—जिसे हम प्रगतिशील साहित्य कहते हैं—हम व्यक्ति के ऊपर समाज-शक्ति के विचारहीन उत्पीड़न एवं मंगलहीन नीति के विरुद्ध मानव-मन के विद्रोह का सुर पाते हैं। आधुनिक युग का प्रगतिशील लेखक दिखलाता है कि जिसे हम नीति और धर्म कहते हैं उसके नाम पर ही आज समाज में समस्त दुर्नीति एवं दुष्कर्म हो रहे हैं। समाज की जो नीति है उसके मूल में समाज के ऊपर शासन करनेवाले शक्तिशाली वर्ग का निर्लज्ज लोभ एवं निष्ठुर स्वार्थ काम कर रहा है। समाज की संपत्ति के ऊपर वर्ग-

विशेष के मालिकाना हक को कायम रखना होगा, इसलिए राष्ट्र-व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह-भाव धारण करना अधर्म है, पाप है। ब्राह्मण जाति के विशेषाधिकार क्षुण्ण होने न पावें इसलिए शूद्रों का वेदाध्ययन करना अधर्म है। शक्तिमान पुरुष ने नारीदेह के ऊपर सम्पूर्ण कर्तृत्व चाहा था, इसलिए नारी का सतीत्व इहलोक और परलोक के लिए उसका परम धर्म है, और पुरुष का व्यभिचार कौतुकमात्र है। प्रगतिशील साहित्य हमें बताता है कि पुरुष-स्त्री के वैवाहिक संबन्ध के मूल में सबसे बढ़ कर जो कारण काम कर रहा है वह है आर्थिक। अर्थात् आर्थिक पराधीनता के कारण ही प्राचीन काल से लेकर अब तक पुरुष नारी के साथ स्वेच्छाचारमूलक व्यवहार करता आ रहा है! सामन्तयुग में राजे-महाराजे और बादशाह-नवाबों के अन्तःपुर और हरमों की रानियों और बेगमों की केलिलीलाओं में तथा आधुनिक युग की वेश्यावृत्ति में हम नारी की उस आर्थिक परवशता का ही प्रकाश पाते हैं। इसलिए नर-नारी के बीच जो प्रेम होता है उसमें स्वाभाविक यौन-आकर्षण एवं हृदयावेग की अपेक्षा आर्थिक प्रयोजन की मात्रा ही अधिक होती है।

समाज-चेतना के आधार पर जिस साहित्य की आज सृष्टि हो रही है और जिसे हम प्रगतिशील साहित्य के नाम से अभिहित करते हैं, उसका जीवन-दर्शन अत्यन्त स्वस्थ, सुन्दर एवं स्वाभाविक है। उसमें भावुकता न होकर युक्तिनिष्ठा है। उसमें अनागत भविष्य के प्रकृत साहित्य का हमें आभास मिलता है। यही प्रगतिशील साहित्य जब आगे चल कर अपने परिणत रूप को प्राप्त होगा, तब यह विश्व के भावी साहित्य का स्थान ग्रहण करेगा। आज का प्रगतिशील साहित्य परवर्त्ती युग के उसी भावी साहित्य का अग्रदूत बन कर हमें मार्ग-प्रदर्शन कर रहा है, मशालची बन कर भावी साहित्यिकों के लिए मार्ग-निर्देश कर रहा है। एक दल समालोचक इसे प्रचारमूलक साहित्य बता कर इस श्रेणी के साहित्यिकों का व्यंग-विद्रूप कर रहे हैं। उनका आक्षेप है कि यह प्रकृत साहित्य नहीं, इसके द्वारा शाश्वत साहित्य की रचना नहीं हो रही है। किन्तु उन्हें जान रखना चाहिए कि शाश्वत साहित्य की सृष्टि कोई योजना बना कर या दल बाँध कर नहीं की जा सकती। शाश्वत साहित्य समयानुसार स्वयं आत्म-प्रकाश करता है। प्राचीन

साहित्य की तरह इस समय साहित्य-सृष्टि का भार थोड़े से लोगों के ऊपर नहीं है। इस समय साहित्य का साधारणीकरण हो रहा है। साहित्य-सृष्टि की क्षुधा सार्वजनीन हो रही है।

समस्त साहित्यिक आन्दोलनों की तरह आज के इस प्रगतिशील साहित्य-आन्दोलन में भी विद्रोह का सुर सुनाई पड़ता है। साहित्यिक परम्परा के प्रति, साहित्य की सनातन रीति-नीतियों के प्रति इसका यह विद्रोह है। किन्तु इस विद्रोह के इतिहास में एक गम्भीर सत्य छिपा हुआ है। विवर्तन के जिस अखंड नियम से समाज प्रगतिशील हो रहा है उसी नियम के अनुसार यह साहित्यिक विवर्तन भी चल रहा है। असुन्दर से सुन्दर, अपूर्ण से सम्पूर्ण, क्षुद्र से बृहत् की ओर विवर्त्तन का यह स्रोत चल रहा है। इसमें केवल विद्रोह ही विद्रोह नहीं है—एक नवीन सृष्टि का प्रयास भी है। किन्तु उस सृष्टि का अभी सम्यक् रूप में प्रकाश नहीं हो रहा है। अभी हो भी नहीं सकता। कारण, आज के इस युगसन्धि काल में जराजीर्ण पुरातन समाज व्यवस्था एवं अनागत नूतन समाज-व्यवस्था के बीच जो संघर्ष चल रहा है, उस सघर्ष के बीच से होकर ही आज का साहित्य अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। उसका लक्ष्य स्पष्ट एवं सुनिश्चत है, किन्तु मार्ग विघ्नबाधापूर्ण है। संघर्ष से प्रभावित होकर ही आज का प्रगतिशील साहित्यिक मनुष्य और उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में विचार करता है और अपने मन में धारणाएँ निश्चित करता है। इसलिए स्वभावतः उसकी रचनाओं में विषय-वस्तु की संकीर्णता एवं एकदेशीयता देखी जाती है। आज का प्रगतिशील साहित्यिक जिस मनुष्य की कल्पना कर रहा है वह मनुष्य निरन्तर समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ, प्राचीन परम्परा एवं मान्यताओं के साथ संग्राम कर रहा है। इसलिए इस प्रकार के मनुष्य को लेकर जहाँ साहित्य-रचना होगी, वहाँ विषय—वस्तु की संकीर्णता होगी ही। आज राष्ट्र एवं समाज में सर्वत्र ही अशान्ति, असन्तोष, मृत्यु एवं विध्वंस की ताण्डवलीला चल रही है। उसमें व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण लेकर मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में, मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य के सम्बन्ध में विचार करना सम्भव भी नहीं है। मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य को लेकर, उसके मौलिक स्वरूप को लेकर

श्रेष्ठ साहित्य की, विश्ववरेण्य साहित्य की रचना तभी सम्भव होती है जबकि देश शान्ति एवं सुख से पूर्ण होता है। जहाँ कोटि-कोटि मनुष्य निरन्न एवं निवस्त्र होकर अपने असहाय आर्त्तनाद से आकाश को विदीर्ण कर रहे हों, जहाँ यौवन मूमूर्षु हो, मनुष्य लाँछित, अपमानित एवं निपीड़ित हो, अन्न दुर्लभ हो, प्रतिक्षण निराहार की विभीषिका दृष्टि के सामने नाच रही हो, मृत्यु जीवन का चिरसंगी हो, वहाँ विश्व-साहित्य की रचना के लिए उपादान कहाँ से मिल सकता है ? इस युग में यदि शेक्सपियर, कालिदास, तुलसीदास, शेली या कीट्स पैदा होते तो वे भी चिरन्तन साहित्य की रचना करने में समर्थ होते या नहीं इसमें सन्देह है।

प्रगतिशील साहित्य के पीछे एक वैज्ञानिक मनोवृत्ति काम कर रही है। इस मनोवृत्ति की प्रधान बात है प्रगाढ़ सत्यनिष्ठा। इस सत्यनिष्ठा में कल्पना, मोह, प्राचीन संस्कार आदि के प्रति एकान्त अविश्वास है। वह वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य की परीक्षा करता है। जो स्पष्ट है, जो इन्द्रियग्राह्य है, जो युक्ति द्वारा सिद्ध है, जो सर्वसाधारण जन के अनुभवों के ऊपर प्रतिष्ठित है उसे ही यह सत्य के रूप में ग्रहण करता है। इस निर्भीक सत्यनिष्ठा के कारण ही आधुनिक साहित्य को अनेक चिरपोषित आदर्शों को देवता के सिंहासन से च्युत करके धूलिसात् करना पड़ता है। प्राचीन आदर्शों को वह तीक्ष्ण विचारशक्ति एवं तार्किक बुद्धि के साथ देखता है, उसका ऊहापोह करना चाहता है जिससे अनेक आदर्शों की भण्डता प्रकट हो जाती है; उनका कृत्रिम रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जो कठोर सत्य का स्पर्श सहन नहीं कर सकता, जो युक्ति-तर्क की आलोकरश्मि से तिलमिला उठता है, उसका ध्वंस हो जाय—यही आधुनिक साहित्य चाहता है। साहित्य में केवल भाव एवं विभाव, रस एवं अलंकार के सिवा और किसी वस्तु के लिए स्थान नहीं, यह मानने के लिए आधुनिक साहित्य तैयार नहीं है। वह समग्र मानव को लेकर, समस्त अनुभूतियों को लेकर चलना चाहता है। साहित्य में आध्यात्मिकता के नाम पर पाखण्ड को भीरुता एवं कापुरुषता को प्रश्रय दिया जा रहा है उसे वह मानसिक दुर्बलता एवं अक्षमता का नामान्तर मात्र समझता है।-संस्कारों के बन्धन को मानवात्मा के चिरन्तन सत्य के रूप में मानने के लिए वह तैयार नहीं।

प्रगति साहित्य वास्तव की उपेक्षा करके नहीं चलना चाहता। वह जानता है कि आज का मानव-समाज श्रेणियों में विभक्त है। इस श्रेणीविभक्त समाज में मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वन्द्व चल रहा है। विच्छेद की खाई गहरी होती जा रही है। समाज की धनोत्पादन-प्रणाली पर जिस parasite श्रेणी का पौने सोलह आना अधिकार है उसी श्रेणी के सुख-दुख, हर्ष-शोक, उल्लास-विलास का सुर साहित्य में झंकृत हो रहा है। इस श्रेणी के स्वार्थों की रक्षा करने, उसके मालिकाना हक को कायम रखने के लिए साहित्य उसकी उदारता, वदान्यता एवं संस्कृतिप्रियता का गुण-गान करता है। शिक्षा, संस्कृति, समाचारपत्र आदि जितने प्रचार के साधन हैं सब पर उसी का एकाधिपत्य है। इसलिए साहित्य एवं संस्कृति में भी श्रेणी-विशेष की रुचि की ही प्रतिध्वनि होती है। शासित एवं शोषित इस श्रेणी साहित्य द्वारा आत्मप्रकाश नहीं कर सकते। उनके आत्म-प्रकाश का पथ सदा के लिए अवरुद्ध रह जाता है। इसलिए श्रेणीविभक्त समाज के साहित्य में हमें समाज का सम्पूर्ण चित्र न मिल कर खण्डचित्र मिलता है। अखण्ड मानव-समाज का वास्तविक चित्र प्रकृत सामाजिक साहित्य में ही देखने को मिल सकता है। और यह तभी संभव है जबकि समाज में श्रेणीभेद न रह जाय, एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी के शासन एवं शोषण का अन्त हो जाय और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की जो खाई है वह भर दी जाय। इसी श्रेणीहीन समाज की अपेक्षा में आज का प्रगति साहित्य अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। जिस दिन सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार की समाज-व्यवस्था प्रचलित होगी उसी दिन मानवता का वास्तविक रूप साहित्य में प्रस्फुटित हो उठेगा।

इसलिए आज का प्रगति साहित्य अपने चतुर्दिक के समाज और उसके स्त्री-पुरुष के जीवन को, उनके सुख-दुःख की, उनकी रुचि एवं विचार की उपेक्षा करके केवल कल्पना के रंगीन पंख लगा कर उन्मुक्त गगन में विचरण करना नहीं चाहता। वह वास्तव के असुन्दर एवं कदर्य्य रूप को चूर्णविचूर्ण करके नूतन की सृष्टि करना चाहता है। वह भी दुःख से मुक्ति चाहता है, शान्ति एवं सुख चाहता है किन्तु किस प्रकार? वास्तव की उपेक्षा करके कल्पित-कल्पना के कुंजवन में आश्रय लेकर नहीं। दैन्य एवं हाहाकार के बीच

केवल आत्म-सुख के लिए कल्पना की अमरावती की रचना करना उसे अभीष्ट नहीं। वह शान्ति की अपेक्षा जीवन चाहता है, और जीवन के प्रति अनुराग धारण करके जीवन को सर्वाङ्गसुन्दर एवं लोभनीय बनाना चाहता है। प्रगतिशील साहित्यिक भी इस बात को मानता है कि साहित्य का मुख्य ध्येय सौन्दर्य्य की सृष्टि करना है, इस सृष्टि द्वारा अनवद्य आनन्द प्रदान करना है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि इस आनन्द पर सबका अधिकार होना चाहिए; इस सौन्दर्य्य एवं रस का उपभोग सब लोग कर सकें इस ओर भी उसकी दृष्टि है। वह शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य्य की महिमा से सब मनुष्यों के जीवन को महिमान्वित बनाना चाहता है। वह अनाहार एवं कृच्छ्रसाधना की महिमा का प्रचार करके, धनिकों की उदारता एवं दानशीलता का जयगान करके कृतार्थ होना नहीं चाहता। विलासी जीवन की कामुकता, हासविलास, फूल और ज्योत्स्ना, फैशन और मोटरकार, साड़ी और सिनेमा, धनिकों के आमोद-प्रमोद और प्रेमिक-प्रेमिका के कलगुञ्जन की अपेक्षा नित्य के जीवन के धूल और धुआँ, कर्म एवं कोलाहल के साथ अपना निकट सबन्ध समझता है। वह समाज की ऐतिहासिक परिस्थिति से भिन्न अपने को किसी तुरीयलोक का जीव नहीं समझता। वह आर्ट, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, नीति, धर्म सब के मूल्य की परीक्षा सार्वजनीन कल्याण की कसौटी पर करना चाहता है। वह जानता है कि कोटि-कोटि मनुष्यों के दैन्य एवं नैतिक भीरुता के कारण ही बुर्जुआ समाज का औद्धत्य टिका हुआ है। इसलिए आज निद्रित नारायण को जगाना होगा और उसमें आत्म-मर्यादाबोध को पुनरुज्जीवित करना होगा। उसे सिखाना होगा कि वह भी मनुष्य है, और मनुष्य के समान जीवन धारण करने का उसे भी अधिकार है। वह सब धर्मों से बढ़ कर मानव-धर्म को मानता है। उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है मनुष्यत्व को खोकर पशुवत् जीवनयापन करना और सब से बड़ा पापी वह है जो मनुष्य को पशु बनाकर उसके कन्धे पर जुआ रखकर उसे धनोत्पादन के यंत्ररूप में परिणत करके अपनी भोगलालसा को, धनसंचय की प्रवृति को चरितार्थ करता है।

आज का साहित्य सब से पहले मनुष्य को मनुष्य बनना सिखायगा, उसे जीवन के आनन्द एवं प्राचुर्य्य के बीच प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करेगा.

उसके जीवन में साहस, शौर्य्य, दीप्ति एवं उद्दाम गतिवेग भरेगा। युग-युग से जाति के हृदय में जो मूक वेदनायें पुञ्जीभूत हो रही हैं उन्हें वाणी का रूप देगा। वह साहित्य भूखों का अन्न होगा, प्यासों का जल होगा, असहायों का सहाय होगा, दुर्बलों एवं अत्याचार-पीड़ितों के अन्याय का प्रतिकार करने के लिये ब्रह्मास्त्र होगा। उस साहित्य का स्लोगन slogan होगा "Land to the peasant; bread to the starving and peace to all men. वह साहित्य जाति के सामने एक नूतन आदर्श, एक नूतन आइडिया रखेगा और उस आइडिया को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए जाति को आशा, उत्साह, शौर्य्यएवं कर्मोन्मादना का संदेश सुनायगा। वह कल्पनालोक के रंगीन सौन्दर्य्य की सृष्टि न करके वास्तव लोक के प्रचण्ड, मनोहर सौन्दर्य्य की सृष्टि करेगा—वह सौन्दर्य्य जिसमें आतिशबाजी की क्षणस्थायी रंगीन चमक न होकर ज्वालामुखी की प्रचण्ड दीप्ति होगी, जिसमें शून्यगर्भ प्रगल्भता न होकर विद्रोह का हुंकार होगा। जहाँ लक्ष-लक्ष मनुष्य दारिद्र्य की ताड़ना से विह्वल होकर कातर स्वर में क्रन्दन कर रहे हों, वहाँ भावुकतापूर्ण प्रेम की कहानियों और अर्थहीन शब्दों की झंकार एवं शून्यगर्भ कल्पना के उच्छ्वास से पूर्ण कविताओं को लेकर क्या होगा? आँखों के काजल, माथे की बिन्दी, कंकण की किंकिणि और नूपुर की कलध्वनि और छूमछनन, विरह के उष्ण श्वास और मिलन के कलहास्य को लेकर बहुत कुछ साहित्य-रचना हो चुकी। अब भावों की विलासिता नहीं, चिन्ता की गंभीरता एवं अनुभूति की विशालता चाहिए। चाहिए एक ऐसा सबल एवं सजीव आदर्श जो मनुष्य को मनुष्य के समान जीवन व्यतीत करने के लिए अदम्य अनुप्रेरणा प्रदान करे, उसके समक्ष उज्ज्वल भविष्य का चित्र रखे और उसके अन्तर में आदर्श की ऐसी उन्मादना जाग्रत कर दे जो उसके जीवन को अशान्त एवं विद्रोही बना दे और उसे गौरव-गरिमा के शिखर पर आरूढ़ कर सके।

यह पहले ही कह आये हैं कि प्रगतिशील साहित्य भविष्य के प्रकृत सामाजिक साहित्य का अभी हमें आभासमात्र दे रहा रहा है। अभी उस साहित्य की रूपरेखा ही स्थिर हो रही है। उसका प्रकृत रूप तो भविष्य के गर्भ में ही छिपा हुआ है। जब सभी देशों में साम्य एवं स्वाधीनता के आधार

पर श्रेणीहीन मानव समाज की स्थापना होगी, जब मनुष्य-मनुष्य में बुर्जुआ, केपिटलिस्ट, प्रोलिटेरियट, आदि कृत्रिमभेद भाव नहीं रह जायँगे, जब मनुष्य का परिचय केवल मनुष्य के रूप में होगा, तभी मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से विचार करना, मानव चरित्र के चिरन्तन रूप को ग्रहण करके विश्वमानव की दृष्टि से मानव का चित्राङ्कण करना साहित्य में सम्भव होगा। मानव समाज के सम्बन्ध में सर्वात्मक दृष्टि साहित्यिकों में तभी उत्पन्न होगी और फिर उस श्रेणीहीन समाज में से ही ऐसे प्रतिभाशाली लेखक एवं कवि उत्पन्न होंगे जो सम्पूर्ण मुक्त एवं सर्वात्मक नूतन साहित्य की रचना करेंगे और उनकी यह रचना विश्वसाहित्य के दरबार में शाश्वत साहित्य के रूप में समादर पायगी। यह साहित्य सब प्रकार के वादों से मुक्त विशुद्ध एवं व्यापक साहित्य होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रगतिशील साहित्य के स्रष्टा ही भविष्यत् के स्वप्न की रचना करके अपने श्रमजीवी बन्धुओं को साम्यवादी समाज के वास्तव रूप के सम्बन्ध में सचेतन करते रहेंगे। इस दृष्टि से विप्लव के काल्पनिक रूप को भी साहित्य में स्थान देने की सार्थकता है। और जो लोग इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं, उसपर चिरंतन की छाप न होने पर भी उसका सामाजिक मूल्य अवश्य है। हाँ, बुद्धिजीवी श्रेणी के जो लोग साम्यवादी कलाकार बनना चाहते हैं उन्हें समाजवादी विचारधारा के सम्बन्ध में निःसंशय होना पड़ेगा। अपनी पूर्व गठित रचनाप्रणाली में परिवर्त्तन करना होगा। जीवन के सम्बन्ध में पूर्व से उनके मन में जो धारणायें बद्धमूल होती आ रही हैं उनमें अनेक पर विजय प्राप्त करनी होगी, बहुतों का परिहार करना होगा। संसार के सम्बन्ध में उनकी दृष्टिभंगी बदल जायगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समाजवादी साहित्यिक या कवि की विषय वस्तु—या रचनाशैली में कोई विशेषता नहीं रह जायगी, स्वातंत्र्य नहीं रह जायगा। असल बात तो यह है कि एकमात्र समाजवादी व्यवस्था में ही व्यक्ति का संर्वाङ्गीन विकास सम्भव हो सकता है। To become an artist of socialism means, if you come from the intelligentia, that not only must you be convinced that the ideas of socialism are

correct, but that you must alter your previously formed poetic-style. It means that you must overcome and discard many of your former ideas about life : you must change your way of looking at the world. But this alteration does not imply that, of course, that the subject matter, imagery and style of the poet of socialism is made to lose all individuality, is reduced to complete uniformity. This is far from the case. The fact is that it is socialism that ensures the all-round development and growth of human individual.

इसलिए प्रगतिशील साहित्यिक यदि शाश्वत साहित्य की सृष्टि नहीं कर रहा है तो इसके लिए अनुताप करने या लज्जित होने की कोई बात नहीं। वह जान-बूझ कर ही उद्देश्यमूलक साहित्य की सृष्टि कर रहा है और यह इस लिए कि उसकी रचनाओं द्वारा सर्वसाधारण जन के मन में विप्लव को वास्तव में रूपायित करने की प्रेरणा संचारित होगी। वह समाज के मर्म की बातों को समझकर नवागत समाज का मांगलिक गान गायगा। वह जड़, अचल एवं पंगु समाज के साथ अपने को आबद्ध न करके समाज की प्रगति के साथ ताल रखकर आगे-आगे चलेगा। वह ऐसे साहित्य की रचना करेगा जो जनता के लिए बोधगम्य हो, उसकी रुचि के अनुकूल हो और उस में एक नूतन आदर्श एवं नूतन स्वप्न को उन्मादनामयी प्रेरणा हो। वह मनुष्य के वास्तव जीवन की समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा करेगा। लेनिन के शब्दों में वह साहित्य होगा—
"It ought to be intelligible to the masses and loved by them".

यह आशा और संतोष की बात है कि हमारे कुछ तरुण साहित्यिकों द्वारा ऐसे साहित्य की सृष्टि हो रही है जो केवल दुःखी, दरिद्र, लाञ्छित एवं अपमानित, शोषित एवं निपीड़ितों के प्रति हमारे मन में सहानुभूति एवं समवेदना ही उत्पन्न नहीं करता बल्कि जिसमें इस अवज्ञा का सुर

होता है, मुक्ति का गर्वित निशान होता है। उस सुर में झंझावात का गर्ज्जन और विक्षुब्ध सागर की उत्ताल तरंगों का नर्तन होता है। वह सुर रक्त में दावानल का दाह, चित्त में चाञ्चल्य, मन में शौर्य्य, प्राणों में पौरुष एवं नेत्रों में स्वप्न देता है। वह नूतन समाज के विजयाभियान का अग्रदूत बनकर, आलोक का केन्द्र बनकर, पौरुष का पुञ्ज बनकर, साम्यमंत्र का उद्गाता बनकर भावी साहित्य के पथ को प्रशस्त करता है। इसलिये ऐसे साहित्यिकों का अभिनन्दन करता हूँ और उनकी इस नूतन जययात्रा की शुभ कामना करता हूँ।*

साहित्य में प्रेम

प्राचीन काल से लेकर अब तक सभी देश के साहित्य में प्रेम का स्थान सर्वोपरि रहा है। विशेषतः काव्य, नाटक और उपन्यास तो अधिकांश ऐसे होंगे जिनके प्राण प्रेम ही हैं। संस्कृत के 'मुद्राराक्षस' जैसे नाटक और अँगरेजी के 'Pilgrim's Progress,' 'Robinson Crusoe', Gulliver's Travels' या 'Ninety-three' जैसे उपन्यास अवश्य ही इस नियम के अपवादस्वरूप हैं। किन्तु बहुत-से समालोचक इन उपन्यासों को यथार्थ रूप में उपन्यास स्वीकार नहीं करते। चाहे जो कुछ हो, किन्तु साहित्य में प्रेम की सर्वश्रेष्ठता एवं सर्वव्यापकता स्वीकार करनी ही होगी। और इसका कारण यह है कि मानवमन की सब प्रकार की प्रेरणाओं का मूल उत्स प्रेम ही है।

प्रेम शब्द यद्यपि व्यापक अर्थ का द्योतक है और इसमें भगवत्-प्रेम से लेकर काम-वासनापूर्ण प्रेम तक का समावेश हो जाता है, फिर भी साहित्य में यह साधारणतः स्त्री-पुरुष के प्रणय संबंध को लेकर ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्योंकि मानवीय संबंधों एवं मनोवृत्तियों में सबसे प्रबलतम

---

* विहार प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

यही है। यही मनुष्य की तीव्रतम अनुभूति एवं कोमलतम मनोवृत्ति है।

प्रेम के संबंध में अभी तक कोई निश्चित व्याख्या नहीं हो सकी है और न इसका कोई रूप ही निश्चित हो सका है। इसका कारण यह है कि अवस्था एवं परिस्थिति-विशेष के अनुसार प्रेम के संबंध में सबकी धारणाएँ एक समान नहीं होतीं। किसीके लिए प्रेम में केवल शून्यता एवं हाहाकार, नैराश्य एवं रोदन; किसी के लिए ज्वालामय एवं निरवच्छिन्न वेदनापूर्ण और किसीके लिए आनंद की अमृतधारा और रस का प्रस्रवण। किसी के भाग्य में प्रेम को लेकर मृत्यु वदी होती है और कोई दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है। किसी को प्रेम का प्रतिदान मिलता है और कोई जीवन भर चाहते ही रह जाता है।

प्रेम या प्रणय मानव हृदय में पहले-पहल कब प्रवेश करता है, यह कोई ठीक-ठीक नहीं बता सकता। इसके अस्तित्व का हमें तब ज्ञान होता है जब इस मार्ग में हम बहुत आगे बढ़ गए होते हैं। जब आंखों की राह से दिल की चोरी हो गई होती है, जब प्रेम की अमरबेलि हमारे मन-प्राण-आत्मा को संपूर्ण आच्छन्न कर लेती है, जब उसमें फलफूल लगने लगते हैं—उस समय हम जान पाते हैं कि हम प्रेम-देवता के हाथ बिक चुके हैं और तब उसके पाश से अपने को मुक्त करना हमारे लिए असंभव हो जाता है।

प्रेम को अंध कहा गया है। क्यों ? इसलिए कि प्रेम समय-असमय, पात्र अपात्र, सुन्दर-कुरूप का विचार नहीं करता। एंटोनी क्लियोपेट्रा के प्रेम में उन्मत्त होकर रोम के गौरव को बिलकुल भूल गया था। आधुनिक युग में भी बड़े-बड़े सम्राटों और राजे-महाराजों के साधारण स्त्रियों से प्रेम करने और इसके लिए राजसिंहासन तक का परित्याग करने के अनेक दृष्टांत पाए जाते हैं।

पुरुष का प्रेम बहुधा बहिर्मुखी 'Extrovert' होता है। उसके बाह्य लक्षण देखे जाते हैं। आगे बढ़कर प्रेम-याचना करने की विशिष्टता पुरुष में ही पायी जाती है। प्रेम में पड़कर पुरुष हाहताश करता है, क्रंदन करता है, प्रेम की कहानी और कविता की रचना करता है और न मालूम क्या-क्या करता है। उसके दिल का दर्द किसी तरह भी दाबे नहीं दबता, हृदय की आग छिपाए नहीं छिपती। तड़पना, सिसकना, आहें भरना और बार-बार उसी की याद करना। विकारग्रस्त रोगी की तरह प्रेम के फाँस में पड़कर छटपट करना,

खाना-पीना भूल जाना, रात-रात भर जागकर प्रेमपूर्ण पत्र लिखना, उदास चेहरा और बिखरे हुए बाल लेकर गलियों में घूमते फिरना और कभी-कभी विषपान करके या नदी-तालाब में डूबकर आत्महत्या करना। किन्तु नारी का प्रेम प्रायः अंतस्थ या अंतर्मुखी 'Introvert' होता है। इसमें संदेह नहीं कि नारी के प्रेम की गंभीरता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है और नारी जिससे प्रेम करती है, उसे मन-प्राण से चाहती हैं ; प्रेम की वेदी पर अपना सर्वस्वार्पण कर देती है, फिर भी वह प्रेमिक को सहज ही इस बात का आभास नहीं होने देती कि वह उसके प्रणय की आकांक्षिनी है। नारी के इस अंतस्थ प्रेम को, उसके हृदय की आग को जानने का कोई उपाय नहीं। हृदय भले ही वेदना से विदीर्ण हो रहा हो, किन्तु मुख से एक शब्द भी फूट नहीं सकता। यहाँ तो 'लबों पै मुहर खामोशी, दिलों में याद करते हैं।' प्रेमपाश में आबद्ध होकर, प्रेम-सागर में आपादमस्तक निमग्न होकर भी नारी हाहताश एवं हाहाकर नहीं करती ; भले ही वह रात भर तकिया के नीचे मु ह छिपाकर रोती रह जाए, किन्तु उसके उस क्रंदन की आवाज पुरुष के कानों तक थोड़े ही पहुँच पाती है ! प्रेम में पड़कर विरह की कविता एवं कहानी लिखते भी नारी को कदाचित ही देखा गया है। किन्तु नारी के प्रेम की इस बाह्य निष्क्रियता का अर्थ यह नहीं कि पुरुष की अपेक्षा उसके प्रेम की गंभीरता कम होती है। उसकी यह निष्क्रियता ही पुरूष के लिए प्रबल आकर्षण का कारण होती है। चुंबक जिस प्रकार चुप रहकर ही लोहा को अपनी ओर बरबस खींच लेता है, उसी प्रकार नारी भी मौन एवं निष्क्रिय भाव धारण करके भी प्रबल रूप में पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। पुरुष के प्रेम की वेदना को लेकर न मालूम कितने सुन्दर काव्यों एवं गीति-काव्यों की रचना हुई है और आज भी हो रही है। संसार के समस्त काव्य, नाटक, उपन्यास में नारी को केंद्र करके ही पुरुष ने प्रेमाख्यान की रचना की है। नर को केंद्र करके नारी की लिखी हुई रचनाएँ विरले ही मिलेंगी। इस बात के दृष्टांत भी कदाचित ही मिलेंगे कि नारी प्रेम की याचना लेकर पुरुष के द्वारस्थ हुई हो और प्रकाश रूप से प्रेम की भिक्षा मांगी हो और पुरुष ने उसके उस प्रेम का प्रत्याख्यान कर दिया हो।

प्रेम में गतिहीनता नहीं, उद्दाम गति-वेग होता है। वह जीवन को जड़ एवं पंगु न बनाकर गति-शील बनाता है। मनुष्य यदि एक ही वस्तु पर आजीवन अपने प्रेम का अर्घ्य प्रदान करता रहे, तो उसके प्रेम की परिधि संकीर्ण ही बनी रहेगी, उसका अंतर पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाएगा और किसी नूतन भाव का आलोक उसके अंतर को आलोकित नहीं कर सकेगा।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि कोई मनुष्य किसी एक विषय के प्रति बहुत दिनों तक अनुरक्त नहीं रह सकता। नव-विवाहित दंपति में परस्पर जो आकर्षण और एक-दूसरे को अपनाने की अतृप्त आकांक्षा देखी जाती है, वह विवाहित जीवन के कुछ समय बाद क्रमशः मंद होने लगती है। यौन-मिलन का दैहिक आनंद स्थायी नहीं होता। कुछ समय के बाद ही इस आनंद की उन्मादना शांत हो जाती हैं और अपने पीछे छोड़ जाती है क्लांति का भार एवं उदासीनता। दांपत्य जीवन में बसंत के दिन व्यतीत हो जाते हैं और रह जाता है केवल पतझड़। हृदय की आग बुझ जाती है—रह जाता है केवल मृत-प्रेम का चिताभस्म। अब दंपति में परस्पर साक्षात होने से पहले के समान प्राणों में कलहिल्लोल नहीं उठते, रगों में उष्ण रक्त की धारा नहीं बहती, नसों में बिजली नहीं दौड़ती। दंपति में परस्पर सान्निध्य लाभ की कामना भी कम हो जाती है। तभी तो एक रसिक साहित्यिक ने लिखा है—'I spoke, she heard. Then she talked, I listened. Now she shouts, but I do not hear.। इसीलिए प्रेम को चिरनूतन बनाए रखने के लिए साहित्य में मिलन की अपेक्षा विरह को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। आजीवन मिलन संभव भी नहीं है और यह वांछनीय भी नहीं है। क्योंकि अनवरत मिलन में मिलन का माधुर्य नहीं रह जाता और जीवन में एकरसता आ जाने से वैचित्र्य का आनंद नहीं रह जाता। वैष्णव कवियों ने तो मिलन की अपेक्षा विरह को ही वरेण्य माना है—'संगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्त्वस्याः'। ईसाई मिस्टिकों की भाषा में इसीको "Dark night of the soul"–"Divine absence" या "the ecstasy of deprivation कहते हैं। साहित्य-शास्त्र में विरह"

की दस दशाओं का उल्लेख किया गया है। भक्तिशास्त्र में विरह की उपयोगिता इसलिए मानी गयी है कि भगवान भक्त को विरहानल में दग्ध करके विशुद्ध बना देते हैं। कबीर ने कहा है—'विरह-अगिन अंदर जारे, तब पावे पद पूरे।' सूफी मतवाले तो निरंतर विरह की ही कामना करते हैं—'May I seek and ever seek. But may I never find!' कहते हैं, मिलन में प्रेम सो जाता है। विरह में उसकी तीव्रता बढ़ जाती है। विरह में मिलन की आकांक्षा जितनी ही प्रगाढ़ होती है, रसानुभूति की मात्रा भी उतनी ही प्रगाढ़तर होती जाती है। दादू को तो विरह की ज्वाला में जलते रहने में ही आनंद मिलता है :—

'तलफि-तलफि विरहिनी मरै करि-करि बहुत बिलाप।
विरह अगिनि में जल गई, पीव न पूछे बात॥
प्रीत जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माँहि।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, दादू दूसर नाहिं।'

मिलन मन के ऊपर उस प्रकार की छाप नहीं छोड़ जाता, जिस प्रकार विरह। तभी तो संसार में जितने काव्य, नाटक एवं कथा-साहित्य हैं उनमें विरह की ही प्रधानता देखी जाती है। मनुष्य विरह के आख्यान से जितना प्रभावित होता है, उतना मिलन के आख्यान से नहीं। नाटक और सिनेमा में विरह के दृश्य गंभीर रूप में हमें प्रभावित करते हैं और उनकी छाप खेल समाप्त हो जाने के बाद भी बहुत देर तक हमारे हृदय पर अंकित रहती है। विरह के साथ माधुर्य का सम्मिश्रण अधिक परिमाण में होने के कारण ही कहा गया है—"Our sweetest songs are those, that tell of saddest thoughts' या 'Love is loveliest when enbalmed in tears."

काव्य, नाटक में जिस प्रेम का वर्णन किया जाता है, वह विशेषतः 'पूर्व राग' होता है, अर्थात् विवाह के पूर्व कुमार-कुमारी में प्रेम। इसके सिवा साहित्य में एक तीसरा मार्ग परकीया प्रेम का भी है। प्राचीन वैष्णव साहित्य में और आधुनिक साहित्य में विशेष रूप में हम इस परकीया प्रेम का अस्तित्व

पाते हैं। किंतु कुमार-कुमारी के बीच प्रेम का उल्लेख अधिकांश काव्य, नाटक उपन्यासों में मिलता है। दांपत्य प्रेम का वर्णन किसी भी देश के साहित्य में बहुत कम हुआ है।

पूर्वराग का संचार नायक और नायिका के बीच श्रवण और दर्शन से अधिकांश स्थलों में पाया जाता है। नायक या नायिका के रूपगुण का वर्णन सुनकर प्रणय-संचार के अनेक दृष्टांत साहित्य में पाए जाते हैं। स्वप्न में या चित्र में प्रेमिक या प्रेमिका को देखकर एक का दूसरे के प्रति मुग्ध हो जाना भी साहित्य के लिए कोई असाधारण घटना नहीं है। संस्कृत के 'रत्नावली' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक इसके दृष्टांत हैं। आज कल भी तो विवाह-संबंध होने के पूर्व कन्या का फोटोग्राफ देखकर वर का चित्त चंचल हो उठता है। इस वस्तुवादी युग में रोमान्स के लिये जीवन में बहुत कम स्थान रह गया है। इसलिए आधुनिक साहित्य में स्वप्न या चित्र में देखकर अथवा रूपगुण का वर्णन सुनकर प्रणय-संचार के दृष्टांत उतने नहीं पाए जाते, जितने साक्षात् दर्शन द्वारा प्रेम-संचार के। इसे ही तो अँगरेजी में Love at first sight या इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर Love at first glimpse कहते हैं। क्षात्रयुग में वीर कन्याओं का वीर राजकुमारों के वीरत्व, पौरुष, धनुर्भंग, लक्ष्यवेध आदि वीरोचित कर्मों को देखकर गुणमुग्ध होना प्रसिद्ध है। क्षात्रयुग Age of chivalry आज नहीं रहा। इसलिए आधुनिक साहित्य में शायद इस प्रकार के गुणों के लिए विशेष आकर्षण नहीं रह गया है।

प्राचीन काल के रोमांटिक काव्य, नाटक और प्रेमाख्यानों में प्रेम के न मालूम कितने रूपों का वर्णन किया गया है। शिकार में, नौका-यात्रा और रेल-यात्रा में, मेला और मंदिर में नायक और नायिका के बीच प्रणय-संचार के कितने ही दृष्टांत पाए जाते हैं। आधुनिक काल में होटल और सिनेमा में, पिकनिक और भ्रमण में, कालेज के क्लास में और मेस की छत पर, फुटबाल के मैदान में और जहाज की जेटी पर सर्वत्र प्रेमदेवता का राज्य दीख पड़ता है। भवभूति ने ठीक ही कहा है, 'भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा, विकारि च यौवनम्', प्रेम-देवता के पाश से कौन बच सकता है। विश्वामित्र और पराशर जैसे परम तपस्वी भी रमणी के रूपलावण्य को देखकर अपने समस्त जप-तप को भूल

बैठे थे। तभी तो कहा गया है, 'यदि सा प्रमदा हृदये वसति, क्व जपः क्व तपः क्व समाधिविधिः।'

वैष्णव काव्य-साहित्य में इस प्रेम को ही मधुर रति कहा गया है। वैष्णव कवियों ने मधुर रति को सबसे उच्च स्थान दिया है। कारण, मनुष्य के परस्पर के सब संबंधों में स्वामी-स्त्री का संबंध ही सबसे मधुर है। इन कवियों ने कृष्ण को कान्त और भक्त को कान्ता कहा है। इस मधुर भाव की उपासना दो प्रकार से की गयी है, स्वकीया एवं परकीया। स्वकीया एवं परकीया में वैष्णव कवियों ने परकीया को ही श्रेष्ठ कहकर स्वीकार किया है। स्वकीया-साधना में कृष्ण पति और परकीया में उपपति बन जाते हैं। परकीया भाव का प्रयोजन क्या है? वैष्णवाचार्य्यों का कहना है कि पति-पत्नी के संबंध में माधुर्यभाव अवश्य है, किंतु उपपति के संबंध में माधुर्य्य और भी अधिक है। प्रथम संबंध म्लान हो जाता है, किन्तु दूसरा संबंध कभी म्लान नहीं होता। उसमें रसोल्लास की मात्रा कभी न्यून नहीं होने पाती।

किंतु वैष्णव-साहित्य के इस प्रेम को कामगन्धहीन बताया गया है। काम में विकार है, प्रेम में विकार नहीं है। काम आधिपत्य का प्रचंड गर्व लेकर एक दूसरे को ग्रसित करना चाहता है—अपनी इच्छा पूर्ण हो जाने पर बासी फूल के गुच्छे की तरह, एक दिन जिसे प्रियतमा के रूप में सोहाग किया था, उसे दूर फेंक देता है। काम काँच के पात्र में फेनिल सुरा है, प्रेम हरिद्वार का पवित्र हिमशीतल गंगाजल है। सुरापान में मादकता है और गंगाजल में अन्तर्दाह की शीतलता। काम सहज लभ्य है, प्रेम साधना का धन है। गेंदे के फूल में रंग है, रूप है और सुवास भी है; किंतु वह हमारे मन को उतना आकृष्ट नहीं करता, जितना नील सरोवर में बालारुण के कनक किरणों के स्पर्श से प्रस्फुटित कमल कोरक। वासंती रजनी में किसी रमणीय उद्यान में एसेन्स के सौरभ से सुवासित नवीना रमणी के मोहन कटाक्ष और उसकी अंगभंगी, उसकी देहविभा और मृदु मधुर मुसकान मन में एक उग्र लालसा उत्पन्न कर देती है। दूसरी ओर गोधूली बेला में जब अस्ताचलगामी दिनमणि के अंतिम राग से दिशाएँ रंजित हो उठती हैं, उस समय अदृश्य प्रकाश

और अर्द्ध अंधकार में तुलसीचौरा के नीचे लज्जानम्रमुखी गृहवधू का मोहन चित्र हमारी समस्त चपल वासनाओं को शांत कर देता है।

साहित्य में जो प्रेमधर्म है वह केवल स्थूल देह को लेकर परिमित नहीं रहता और न सार्थक हो सकता है। वह व्यष्टि को लेकर सीमाबद्ध नहीं रहता। भूमा का जो आनंद है उसका आह्वान उसके कानों तक पहुँचे बिना नहीं रहता। भूमा के इस आनंद में, व्यापक प्रेम के माधुर्य में समस्त व्यक्तिगत संकीर्ण भावना का लोप हो जाता है और इस रूप, रस, गंध, स्पर्शयुक्त पृथिवी के बीच रहकर भी अखिल के विरह में प्रेमिक की आत्मा क्रंदन कर उठती है। इस अवस्था में सर्वत्र प्रिय का ही रूप, उसीकी माधुरी दिखाई पड़ती है।

श्यामघन को देखकर उस श्याम के रूप की, विद्युत् छटा को देखकर उसके पीताम्बर की, घन-निस्वन को सुनकर उसके मुरलीरव की याद आ जाती है। 'आज घनश्याम की अनुहारि' उस समय प्रिय को छोड़कर प्रीति की और कोई भावना या कल्पना रह ही नहीं जाती:·'I am my Beloved's and my Beloved is mine.' उस समय प्रेमिक की अवस्था उन्मत्तवत् हो जाती है। कहा भी है—The Lunatic, the lover and the poet. Are of imagination compact. प्रेम की इस आत्मविभोर दशा में केवल प्रियतम ही प्रियतम रह जाता है :— Love is that flame which when it is kindled, devours everything except the Beloved.' "मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे। बाकी न मैं रहूँ न मेरी आरजू रहे।" या, "तुझे देखे तो फिर औरों को किन आँखों से हम देखें।" वे आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखो से हम देखें।" "कान्ह भये प्राणमय प्राण भये कान्हमय, हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्राण है।" 'देव' कवि ने विरहिणी ब्रजबालाओं का वर्णन करते हुए कहा है:—"नख ते शिखालौं सब श्याममई बामभई, बाहिर ह्वै भीतर न दूजो 'देव' देखिये ; जोग करि मिलै जो वियोग होय बालम जू ह्यां न हरि होय तब ध्यान धरि देखिये" "बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया।

अगर पाया, पता अपना न पाया।" प्रेमी के हृदय में तो अखिल विश्व का अनंत सौन्दर्य अनन्त रूप से नाचा करता है। वहाँ कहाँ मृत्यु और कहाँ जीवन ! यह सब तो बहिर्जगत की कल्पनाएँ हैं। यहाँ तो—"तेरे स्मृतिसौरभ में मृगमन मस्त रहे, यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिए। शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से, छिपिये उसीमें मत बाहर हो भीजिए।"

प्रेमिक एक क्षण की उन्मादना में जीवन में जो कुछ संचय किये होता है सबको लुटा देता है। रिक्त हस्त होकर वह मुक्ति लाभ करता है। प्रेम का दीवाना मुग्ध पुजारी एक क्षण के लिये भी जीवन की सकल साधना का फललाभ कर लेने पर एकाकी में भी उसी मार्ग पर डटा रहता है :—

एइ पथखानि रवे मोर प्रिय !
एइ होवे मोर चिरवरणीय।
तोमारि स्मरणे रवी स्मरणीय,
ना मानिवो पराभव।
तव ऊद्देशे अर्पिव हेसे,
या किछू आमार सब॥

—रवींद्रनाथ

रोमांटिक कवि ब्राउनिंग ने भी अपने 'Last Ride Together' में कहा है :—

What if we still ride on, we two
With life for ever old yet new
Changed not in kind but in degree
The instant made eternity—
And heaven just prove that I and She
Ride, ride together, for ever ride ?

प्रेमिक जब अपनी प्रिया को नहीं पाता तो उसका प्रेम कायाहीन हो जाता

है और उसके प्रेम की परिधि क्रमशः विस्तृत होते-होते अंत में उसका प्रेम विश्वजनीन हो जाता है। उस समय वह पृथिवी के अणु-परमाणु तक से प्रेम करने लग जाता है और तब वह प्रेम का प्रतिदान किसीसे नहीं चाहता। उस समय विरह—चिर विरह में ही प्रेम सार्थक होता है।

साहित्य और राजनीति

साहित्य के साथ राजनीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है इस प्रश्न को लेकर वादविवाद का अन्त नहीं। यों तो साहित्य के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में साहित्यिकों और साहित्य-समालोचकों में बराबर मतभेद रहा है और इस मतभेद का कभी अन्त होता हुआ भी नहीं देख पड़ता ; किंतु प्रथम महासमर के बाद से इस प्रश्न ने जनसाधारण के मन को जितना आलोड़ित किया है उतना अब से पहले और कभी नहीं किया था। साहित्य के सम्बन्ध में प्रायः हम कहा करते हैं कि किसी जाति का साहित्य उस जाति के जीवन का मुकुर होता है ; अर्थात् जातीय जीवन का प्रकाश जितना हम जातिविशेष के साहित्य में पाते हैं उतना और किसी वस्तु में नहीं ! इस प्रकार किसी जाति के इतिहास का परिचय उस जाति के साहित्य से सहज ही मिल सकता है। किन्तु राजनीति के बिना तो किसी जाति का इतिहास नहीं हो सकता। इसलिए स्वभावतः ज़ातीय साहित्य के साथ राजनीति का सम्बन्ध अविच्छेद्य रूप में होता है। एक-एक युग के साहित्य में उस युग का इतिहास प्रतिबिम्बित होता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि युगविशेष के विचार एवं भावधाराओं का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता। समाज-निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। विशुद्ध रस साहित्य पर युगविशेष के सामाजिक जीवन की छाया किसी न किसी रूप में पड़े बिना नहीं रहती। कालिदास और शेक्सपीयर जैसे विशुद्ध रस शिल्पी के साहित्य पर क्या उस युग के सामाजिक जीवन की छाया नहीं पड़ी है ? उससे भी पूर्व लैटिन और ग्रीक साहित्य पर हम समसामयिक युग का प्रभाव स्पष्ट रूप में पाते हैं। यदि

लैटिन साहित्य से राजनीति को हटा दिया जाय तो उस साहित्य में इने गिने ही कवि एवं नाटककार रह जायँगे। ग्रीक साहित्य में प्लेटो का विशिष्ट स्थान है। उसके 'Republic' (प्रजा-तंत्र) ग्रन्थ में यद्यपि राजनीति की चर्चा हुई है, किन्तु ग्रीक भाषा के मर्मज्ञों का कथन है कि उक्त ग्रन्थ में श्रेष्ठ साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ है। यूनान के श्रेष्ठ नाटककार यूरिपिडिस और आरिस्टोफेंस भी अपने नाटकों को राजनीति की छाया से सर्वथा मुक्त नहीं रख सके। इस प्रकार यदि हम संसार के श्रेष्ठ साहित्य की परीक्षा करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि राजनीति को यदि साहित्य से पृथक् कर दिया जाय तो साहित्य बहुत दीन-हीन बन जायगा।

आंग्ल साहित्य में शेक्सपीयर की प्रसिद्धि एक विशुद्ध रस साहित्यिक के रूप में ही है। किन्तु, समालोचकों ने उसके नाटकों से भी उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि समसामयिक राजनीतिक मतवाद के साथ शेक्सपीयर के नाटकों का सम्बन्ध है। महा-कवि मिलटन ने तो स्पष्टरूप में स्वाधीनता का जयगान किया है। मिलटन की लेखनी का प्रभाव तत्कालीन राजनीति पर स्पष्ट रूप से पड़ा है। अठारहवीं शताब्दी में स्विफ्ट, डा० जानसन और बर्क की रचनाओं में तो राजनीति का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। स्विफ्ट ने तत्कालीन अंगरेजी समाज के आचार-विचार एवं धारणाओं के विरुद्ध चुभती हुई भाषा में व्यंग-विद्रूप किये हैं। बर्क के राजनीतिक लेखों में साहित्यिक ओज भरा पड़ा है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के युग में प्रायः अधिकांश कवि एवं साहित्यिक तत्कालीन राजनीतिक भावधाराओं से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित हुए हैं। कवि वर्ड्सवर्थ ने फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का स्वागत करते हुए अपनी आनन्दोन्मादना को अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है 'Bliss was it in dawn to be alive'. अर्थात् नूतन जगत के उस प्रभात में जीवित रहना परम सौभाग्य का विषय था। बायरन की प्रसिद्धि का कारण तो बहुत कुछ उसकी राजनीतिक कविताएँ ही हैं। शेली की कुछ कविताओं में भी हम राजनीति का आभास पाते हैं, हालांकि वह बहुत ही सूक्ष्म रूप में है।

अंगरेजी उपन्यासों पर अंगरेजी कविता की अपेक्षा राजनीति का प्रभाव

कम पड़ा है। वास्तव में हम इन उपन्यासों को राजनीति के लिए नहीं पढ़ते। अंगरेजी साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय औपन्यासिक डिकेन्स केवल साहित्यिक ही नहीं था, राजनीतिक भी था। उसके प्रसिद्ध उपन्यास Oliver Twist में राजनीति के तत्व स्पष्ट रूप में पाये जाते हैं। किन्तु इससे उसकी कहानीकला अणुमात्र भी क्षुण्ण नहीं होने पायी है। एक अमर कथाकार के रूप में आज भी उसके उपन्यासों की लोकप्रियता बनी हुई है और लोग बड़े चाव से उसके उपन्यासों को पढ़ते हैं। आधुनिक काल के उपन्यासों और नाटकों में तो राजनीति कथावस्तु की एक आवश्यक उपादान जैसी बन गयी है। इस समय के अधिकांश प्रसिद्ध लेखक किसी न किसी रूप में अपनी कृतियों में अपने किसी मतवाद विशेष का प्रचार करते देखे जाते हैं। फिर भी उनकी गणना प्रचारकों में न होकर साहित्यिकों में ही होती है और उनकी रचनाओं का यथेष्ट समादर भी होता है। नोबेल पुरस्कार-विजेता किपलिंग एक कट्टर साम्राज्यवादी थे। उनके इस साम्राज्यवादी मनोभाव का स्पष्ट प्रकाश उनके साहित्य पर पड़ा है। आधुनिक अंगरेज लेखकों में एच० जी० वेल्स और आल्डस हक्सले अग्रगण्य हैं। वेल्स के उपन्यासों में राजनीतिक विचार भरे पड़े हैं। हक्सले ने तो प्रायः समस्त आधुनिक समस्याओं पर अपने विचार अपनी कृतियों में प्रकट किये हैं। और विश्वविख्यात नाटककार बर्नार्डशा ? उन्होने तो स्वयं स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि वह केवल कला के लिए लिखते ही नहीं। उनका साहित्य प्रत्यक्ष रूप में उद्देश्यमूलक है और उसमें राजनीतिक विचार बिखरे पड़े हैं। उनके Major Barbara, The Apple Cart, The Adventure of a Black Girl in search of God आदि नाटक इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। फरासीसी लेखक विक्टर ह्यूगो की गणना संसार के श्रेष्ठतम औपन्यासिकों में की जाती है। उन्होंने अपने उपन्यास 'Last Days of a Condemned' की भूमिका में एक स्थान पर लिखा है: 'I avow openly that the 'Last Days of a Condemned' is only a pleading direct or indirect for the abolition of punishment by death,' अर्थात् 'मैं यह स्पष्ट रूप में स्वीकार करता हूँ कि मेरे इस उपन्यास में प्राणदण्ड की प्रथा को उठा देने के लिए

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में युक्तियाँ उपस्थित की गयी हैं।' केवल इस उपन्यास के द्वारा ही उन्होंने अपने मत का प्रचार नहीं किया है, बल्कि उनकी समस्त रचनाओं में हम तत्कालीन फ्रान्स की सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध उनके विचार स्पष्ट रूप में पाते हैं। कला के एकनिष्ठ उपासक एवं सौन्दर्य-तत्त्व के अनुशीलन में निमग्न रहनेवाले रस्किन किस प्रकार अपने परवर्ती जीवन में राजनीति द्वारा प्रभावित हुए थे इसका स्वयं उन्होंने वर्णन किया है। इंगलैण्ड की सर्वसाधारण, जनता में दैन्य एवं दारिद्र्य का राज्य तथा उसके जीवन में सर्वत्र कदर्य का प्रकाश देखकर उनका सौन्दर्य्यबोध आहत हो उठा। इस अन्याय और अनीति, दैन्य एवं शोषण के बीच सौन्दर्यसाधना के नाम पर कला के कमलवन में आत्म-गोपन करना जीवन की विडम्बना है, और इस अनुभूति का परिणाम यह हुआ कि कला के पुजारी रस्किन समाजनीति और अर्थनीति की आलोचना करने लग गये और इन विषयों को लेकर उन्होंने कितने सुन्दर साहित्य की सृष्टि की! साहित्य के ऊपर राजनीति का प्रभाव कितना प्राणदायक सिद्ध हो सकता है इसके ज्वलंत प्रमाण बर्क और रस्किन हैं। केवल रस्किन ही क्यों, टाल्सटाय, अनातोले फ्रान्स और रोम्यांरोलां के जीवन में भी हम यही बात पाते हैं। सच तो यह है कि यदि किसी दिन पृथ्वी की समग्र मानव जाति के जातीय जीवन पर साहित्य, संस्कृति एवं कला के प्रभाव का इतिहास लिखा जायगा उस दिन हम देखेंगे कि जितने श्रेष्ठ साहित्यिक और कलाकार हुए हैं सबों ने अपनी कृतियों द्वारा अपने मतवाद का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रचार किया है। इस दृष्टि से ये सब प्रचारक थे। All great art and literature is propaganda. हाँ, प्रोपेगेण्डा। किन्तु यह प्रोपेगेण्डा रस से स्निग्ध। इसलिए यह प्रोपेगेण्डा प्रच्छन्न बना रहेगा। उसमें मार्मिक अनुभूति और सुतीव्र वेदना का जो रस सिञ्चित है वही हमारे सामने स्पष्ट हो उठेगा और वही हमें आनन्द प्रदान करेगा। कलाकार का काम होगा राष्ट्र और समाज में भेद-वैषम्य, अनीति और अन्याय, असामञ्जस्य और नियम-हीनता के कारण जो कुछ अशोभन और असुन्दर है उसे अपनी अन्तर्दृष्टि एवं वेदना के कोमल-मधुर स्पर्श से एक अभिनव अपूर्व रूप प्रदान करना, अपनी सुनिपुण तूलिका

के स्पर्श से उसे प्राणमय, रूपमय एवं मधुमय बना डालना। साहित्य एवं शिल्प में हम जीवन के घात-प्रतिघात एवं नित्य-प्रति की घटनाओं की जो प्रति-छवि या परीक्षा-प्रकाश पाते हैं वह इसी रूप में। और इसीमें साहित्य की सार्थकता भी है। प्रत्यक्ष घटना के ऊपर जब शिल्पी की कल्पना, अनुभूति एवं आवेग का गाढ़ा रंग चढ़ जाता है तब वह एक स्वतंत्र वस्तु बन जाती है। यदि साहित्य इस प्रकार हमारे जीवन का अंश न बने; उसमें जीवन की मनोरम झाँकी हमें देखने को न मिले तब तो वह मि० एच० जी० वेल्स के शब्दों में harmless opiate for vacant hours and vacant mind.' के सिवा और कुछ नहीं रह जायगा।

मानवता और संस्कृति के बीच भेद की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। संस्कृति के उपासक को, कला के पुजारी को, सौन्दर्य्य के स्रष्टा को मानवता का उपासक बनना ही पड़ेगा। इन दोनों में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जीवन के किसी भी स्वरूप को आप जीवन से विच्छिन्न करके नहीं देख सकते। अंश को सम्पूर्ण से पृथक् कर देने पर सम्पूर्ण का जो एक सम्पूर्णता-जनित सौन्दर्य्य है वह क्षुण्ण हुए बिना नहीं रह सकता। राजनीति और समाजनीति भी हमारे जीवन के ही पहलू हैं। मानवीय समस्याओं में अन्य समस्याओं की तरह ही उनका स्थान है। और इसलिए मन के व्यापार एवं प्रक्रिया से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। मन के समग्र व्यापार से यदि राजनीति को पृथक् कर दिया जाय तो उसमें एक इतना बड़ा छिद्र रह जायगा जो उस समग्र को विपन्न किये बिना नहीं रह सकता। गणतंत्र के इस मौलिक आधार को स्वीकार किये बिना गणतंत्र की रक्षा नहीं हो सकती। गणतंत्र में इस सिद्धान्त को मानना ही पड़ेगा कि राजनीति के साथ प्रत्येक व्यक्ति का व्यावहारिक सम्बन्ध है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि राजनीति में उसे कोई दिल-चस्पी नहीं है अथवा राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तो उसका यह कथन केवल असंगत ही नहीं, बल्कि घोर अहंवादी और असामाजिक समझा जायगा। यह एक मूढ़ आत्मवञ्चना है, निरी मूर्खता है। क्योंकि मानव-जीवन से राजनीति और समाजनीति को पृथक् नहीं किया जा सकता। संस्कृति के साथ राजनीति का विच्छेद होने से उसका परिणाम संस्कृति के स्वच्छन्द

विकास के लिए कितना घातक हो सकता है, इसका प्रमाण हमें फासिस्ट देशों में खासकर जर्मनी में मिल चुका है। जर्मनी के बुद्धिजीवी वर्ग ने संस्कृति के नाम पर बराबर अपने को राजनीति के कोलाहल से अलग रखा। संस्कृति के संबन्ध में जर्मन बुद्धिजीवियों की जो धारणा थी उसमें संगीत, अध्यात्म, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि सभी अच्छी चीजों का समावेश था। केवल राजनीति का प्रत्याख्यान किया जाता था। उन लोगों ने यही समझ रखा था कि कोई व्यक्ति राजनीति से अपने को संपूर्ण पृथक् रखकर ही सुसंस्कृत बन सकता है। किन्तु राजनीति के प्रति इस प्रकार का उपेक्षाभाव धारण करने से स्वयं संस्कृति पर ही खतरा पहुँच सकता है, इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। तभी तो उनकी समस्त संस्कृति के श्रेष्ठ दान उनके संगीत, कला और साहित्य उनके देश को अधम पाशविक शक्ति की उपासना से, घोर बर्बरता से बचा नहीं सके। इतना ही नहीं, बल्कि नात्सी जर्मनी में संस्कृति के उपासकों के लिए, साहित्यिकों और कलाकारों के लिए स्थान ही नहीं रह गया और नात्सी दल के कोपभाजन बनकर उन्हें विदेशों में निर्वासित तथा बन्दी निवासों में अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ा। जर्मनी के श्रेष्ठ साहित्यिक टामस मैन ने, जो नात्सी जर्मनी से भागकर अमेरिका में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अपने एक लेख में अपनी तथा जर्मनी के अन्य साहित्यिकों की इस बहुत बड़ी भूल को स्वीकार करते हुए स्पष्ट रूप में लिखा है : 'Only in my riper years have I seen, and come to admit, that there is no clear distinction between intellectual and the political. अर्थात् परिणत वयस में मैंने इस बात को समझा है और स्वीकार किया है कि बुद्धिजीवी और राजनीतिक में कोई स्पष्ट भेद नहीं है। कला और संस्कृति के उपासकों ने इस बात को नहीं समझा कि राजनीति की, गणतंत्र के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके, देश की राजनीतिक प्रगति से अपने को विच्छिन्न करके वे मानवमन की स्वतंत्रता पर आघात पहुँचाने में सहायक हो रहे हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण का अर्थ सब प्रकार की मानवीय स्वतंत्रताओं का अन्त है।

समाज आज श्रेणी-विभक्त है। इस श्रेणी-विभक्त समाज में जिस साहित्य

की सृष्टि हो रही है उस साहित्य का प्रभाव श्रेणीविशेष तक ही सीमाबद्ध रह जाता है। इसलिए साहित्य को समाज-जीवन का अनुगामी एवं अनुप्रेरक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज-जीवन के ऊपर राजनीति और अर्थनीति का जो व्यापक प्रभाव है उसे साहित्यिक समझें और साहित्य के साथ जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो अनिवार्य सम्बन्ध है उसको स्वीकार करें। आज की राजनीतिक चेतना का मूल लक्ष्य है श्रेणीविभक्त समाज को श्रेणीहीन समाज में परिणत करके समाज और संस्कारों के बीच समन्वय स्थापित करना; जिससे संस्कृति के प्रकाश से समग्र सामाजिक जीवन सुसंस्कृत हो उठे और साहित्य एवं संस्कृति का व्यापक प्रभाव सामाजिक जीवन के ऊपर पड़ सके। यह समझना भूल है कि विशुद्ध साहित्य में किसी सामाजिक समस्या के लिए कोई स्थान नहीं होता और सब प्रकार के सामाजिक प्रभाव से वह विमुक्त रहता है। राजनीति के सम्पर्क मात्र से कोई साहित्य, साहित्य की पदमर्यादा से च्युत हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक प्रचारकार्य के लिए जिन सब लिखित साधनों का उपयोग किया जायगा उन सबकी गणना साहित्य के अन्तर्गत ही होगी। साहित्य के साथ राजनीति का सम्बन्ध चाहे कितना ही घनिष्ठ हो किन्तु साहित्य को साहित्य बनकर ही रहना होगा। प्रोपेगेण्डा बनकर नहीं। साहित्य बिलकुल प्रोपेगेण्डा न बन जाय इस ओर साहित्यिकों को ध्यान रखना ही होगा। क्योंकि ऐसा न करने से साहित्य में बहुत कुछ कूड़ा-करकट जमे बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार के साहित्य की परीक्षा दूसरी कसौटी पर की जा सकती है कि लेखक में वह अन्तर्दृष्टि, वह प्रकाशभंगी है या नहीं जिससे किसी राजनीतिक घटना को वह अपने अन्तर के रस से सिक्त करके उसे रस-क्षेत्र में ले आवे और साहित्य के रूप में परिवर्तित कर दे। कलाकार के हाथ में पड़कर राजनीति यदि साहित्य में परिणत हो जाय और उसका साहित्यिक स्वरूप स्पष्ट एवं प्रमुख; और राजनीति गौण एवं प्रच्छन्न बना रहे तो उसे प्रकृत साहित्य मानने में हमें क्या आपत्ति हो सकती है? जिसमें साहित्य सृष्टि की

प्रतिभा होगी वह अपनी कल्पना और अनुभूति के बल पर असुन्दर को भी सुन्दर रूप प्रदान कर सकता है। और राजनीति जैसे शुष्क विषय को भी सरल साहित्य रूप में परिवर्तित कर सकता है। इसलिए किसी भी अवस्था में साहित्य अपनी मर्यादा के अन्दर रहकर ही किसी उद्देश्य के प्रचार का साधन बन सकता है। साहित्य यदि अपनी इस मर्यादा का उल्लंघन करके केवल प्रचार के लिए ही रचित होगा तो वह चाहे और जो कुछ हो साहित्य नहीं कहा जा सकता।

अमर कलाकार प्रेमचंद

साहित्य को जाति का दर्पण कहा गया है। इस दर्पण में जाति और समाज का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। इस वास्तव को प्रकाशित करना ही कल्पना का काम होता है। वास्तव मनुष्य के मन के सामने प्रतिदिन जिस प्रकार सहज सरल रूप में आत्मप्रकाश करता है, कल्पना उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। जहाँ वास्तव की उपेक्षा की जायगी वहाँ ऐसे साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती जिसमें आत्मप्रकाश की प्रचंड दीप्ति हो। कल्पना का काम होता है वास्तव की व्याख्या करना, उसे प्रकाश में लाना। "The function of the imagination is to interpret and illuminate reality and it can not therefore neglect or despise the normal aspect under which reality presents itself to the human mind." अपराजेय कथाशिल्पी प्रेमचंद ने हमारे साहित्य में जो अक्षय कीर्ति प्राप्त की है उसका एक बहुत बड़ा कारण यही है कि प्रेमचन्द का साहित्य आधुनिक भारतीय जीवन के वास्तविक स्वरूप पर ज्वलंत रूप में प्रकाश डालता है। इस साहित्य में हम युग की समस्याओं की प्रतिध्वनि पाते हैं, युग की वाणी इसमें बोल रही है। प्रेमचंद के साहित्य को प्रगतिशील साहित्य इसलिए कहते हैं, कि उसमें आदर्श की अस्पष्टता नहीं है। चित्त की चपलता एवं भावों की विलासिता नहीं है, वल्कि अनुभूति की विशालता, चित्त

की गम्भीरता एवं जीवन का दुर्वार गतिवेग है। वही साहित्य गौरव के सिंहासन पर प्रतिष्ठित होता है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है उस संबंध को प्रकाश में लाता है, मनुष्य के साथ मनुष्य का आत्मीय संबंध स्थापित करता है, एक हृदय के साथ दूसरे हृदय को संयुक्त करता है। हमारी चेतना को अपने चतुर्दिक के सहस्र-सहस्र नर-नारियों के बीच परिव्याप्त कर देता है, और वास्तव के ऊपर नूतन रूप में आलोकपात करता है। जो साहित्य जनसाधारण के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षा का मुकुर नहीं बन सकता, जो उत्पीड़ित, शोषित, उपेक्षित एवं लाञ्छित जनता की मूक वेदनाओं को भाषा के माध्यम द्वारा रूप नहीं दे सकता वह साहित्य नूतन युग का प्रतिनिधि नहीं बन सकता।

प्रेमचंद का साहित्य नूतन युग का संदेश हमें सुनाता है, वह संदेश है अपने जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं को प्रत्येक मनुष्य को गम्भीर अन्तर्दृष्टि लेकर देखना। यह दृष्टि ही साहित्य-शिल्पी को अति साधारण मनुष्यों में भी सौन्दर्य एवं महिमा को देखने की असाधारण प्रतिभा प्रदान करती है। प्रेमचंदजी अपने इर्द-गिर्द के नगर और ग्राम के, विशेष कर ग्राम के साधारण मनुष्यों के अन्तर्निहित सौन्दर्य को देखने में समर्थ हुए थे। इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी। कल्पना के तृतीय नेत्र से वह साधारण नर-नारियों के चिरनिर्मल रूप को देख सकते थे, और उन्हें प्यार कर सकते थे। हम मनुष्यों को जो प्यार नहीं करते इसका कारण यह है कि हम उसके बाह्य चरित्र को लेकर ही उसकी परीक्षा करते हैं। उसके अन्तर में जो प्रच्छन्न सौन्दर्य होता है उस सौन्दर्य की कसौटी पर हम उसकी परीक्षा नहीं करते। जहाँ कल्पना की उदारता एवं प्रेम की विशालता होगी वहाँ मनुष्य का विचार उसके बाह्य आचार-विचार से न होकर उसके आन्तरिक रूप से होगा। मनुष्य के चरित्र में उसके आचरण में अनेक दोष एवं त्रुटियाँ हो सकती हैं, इन दोषों और त्रुटियों में उसके व्यक्तित्व का कदर्य प्रकाश हो सकता है, फिर भी इन त्रुटियों से परे जो मनुष्य है, उसकी जो गम्भीरतम सत्ता है उससे हम प्रेम कर सकते हैं।

It is the person we love, let the character-the manifestation of the person-be what it will.

मनुष्य को इस रूप में देखने तथा उसके सम्बन्ध में विचार करने की अन्तर्दृष्टि एवं उदारता प्रेमचंद में थी, तभी तो वह 'सूरदास' और 'होरी' जैसे अमर चरित्रों की सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। "गोदान" में संपूर्ण कथानक का केन्द्रविन्दु होरी है। एक दरिद्र किसान के रूप में होरी भारतीय कृषक वर्ग का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उसके चरित्र में कमजोरियाँ हैं जो एक साधारण मनुष्य में हुआ करती हैं। उसका चरित्र किसी प्रकार भी आदर्श नहीं कहा जा सकता। किन्तु दरिद्र होने पर भी वह सहृदय एवं उदार है। जिस भाई ने उसकी गाय को विष दिया था उसके लिये भी उसके हृदय में उदारता है। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध थी अपने द्वार पर एक गाय पाल रखना, उसी गाय को उसके भाई हीरा ने विष देकर मार डाला था। किन्तु हीरा के प्रति उसके हृदय में प्रतिशोध की भयंकर भावना न होकर प्रेम की विशालता है, तभी तो हीरा के भाग जाने पर वह उसकी स्त्री की देख-भाल करता है; झुनिया और सिलिया को उदारतापूर्वक अपने घर में आश्रय देता है। दरिद्रता के कारण होरी के चरित्र में लोभ आदि अवगुण भी पाये जाते हैं। लोभवश वह अपनी कन्या को बेचकर रुपये प्राप्त करता है। किन्तु इन सब अवगुणों के होते हुए भी वह मनुष्य है और उसके इस मनुष्यत्व का मार्मिक चित्रण उसके जीवन के अन्तिम दृश्य में होरी और हीरा का पुर्नमिलन कराकर किया गया है। इस प्रकार प्रेमचंदजी ने ग्राम्य जीवन की विशाल पृष्ठभूमि पर मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। हमारे जीवन के आस-पास में ही इतना सौन्दर्य बिखरा पड़ा है, हमारे पड़ोस के परिचित स्त्री-पुरुष के चरित्र में इतनी महिमा भरी पड़ी है, इस ओर अभी तक हमारे साहित्यिकों का ध्यान ही नहीं गया था। साधारण स्त्री-पुरुषों के चरित्र में भी दृढ़ता, तेजस्विता, साहस एवं शौर्य हो सकते हैं, उनके जीवन में भी प्रेम की करुण-मधुर लीलायें चल सकती हैं, इसकी उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी। उनकी कल्पना राजों, महाराजों, दिग विजयी वीरों, रणदुर्मद सेनापतियों, आदर्शचरित्र साधु-महात्माओं और

सती-साध्वी स्त्रियों, पढ़े लिखे वकील, बारिस्टर, महाजन रईसों तक ही परिमित थी। सौन्दर्य्य के सन्धान में उनकी कल्पना सुसज्जित राज-प्रासाद, नगर की अट्टालिका, बारिस्टर के ड्राइंग रूम और धनिक महाजन और रईसों के प्रमोदउद्यान तक ही दौड़ लगाती थी। अतीत के इतिहास और पुराणों से काव्य और नाटक के आदर्श पात्र लिये जाते थे। शील, शक्ति एवं सौन्दर्य्य की महिमा विशेष-विशेष मनुष्यों में विशेष-विशेष अवसरों पर ढूंढ़ी जाती थी। कल्पना की दीनता के कारण ही सर्वसाधारण मनुष्यों के जीवन के विचित्र एवं विपुल प्रवाह में शील, शक्ति एवं सौन्दर्य्य की जो प्रच्छन्न लीलायें चलती रहती हैं उनका अब तक हम आविष्कार नहीं कर सके थे, उनसे नवसृष्टि के लिये प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सके थे, हमारे जो आत्मीय, स्वजन, परिजन अति परिचित होने के कारण अब तक उपेक्षित एवं अवज्ञात थे, जिनके लिये अब तक हमारे साहित्य में कोई स्थान नहीं था उनके जीवन की महिमा की उपलब्धि प्रेमचंद ने जिस रूप में की थी वैसी उनसे पहले और किसी ने नहीं की थी। प्रेमचंद ने एक ओर यदि, जमींदारों, महाजनों, रईसों, सरकारी अफसरों और धर्मध्वजियों के निष्ठुर लोभ, उद्धत अन्याय, दुर्विनीत अहंकार, मिथ्या दम्भ, दर्प एवं स्पर्धा तथा दैन्य एवं दारिद्र्य के बीच उनके ऐश्वर्य्य एवं विलासिता के हृदयहीन आडम्बर का यथार्थ चित्रण किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अज्ञात एवं अख्यात साधारण नरनारियों के जीवन में, जो सरल धर्मभीरुता, जो आदर्शनिष्ठा, जो सुषमा, जो माधुर्य्य उद्भासित होते रहते हैं उस ओर भी दृष्टि निक्षेप किया है। यह सच है कि यह दृष्टि सबों में नहीं होती। जो असाधारण प्रतिभाशाली होते हैं वे ही इस दुर्लभ दृष्टि को प्राप्त करते हैं। इस दुर्लभ दृष्टि को प्राप्त करके वे अति-साधारण में भी असाधारणत्व का आभास पाते हैं। जहाँ हम केवल असुन्दर एवं अशोभन देख पाते हैं वहाँ सौन्दर्य्य एवं माधुर्य्य का प्रकाश उनकी दृष्टि के सामने उद्घाटित होता रहता है। जिन सब तुच्छ घटनाओं का हमारी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता वही घटनायें उनके सामने बहुत कुछ अर्थ लेकर उपस्थित होती हैं। जिन मनुष्यों को हम सब प्रकार की विशेषताओं से विहीन समझ कर उनकी उपेक्षा कर देते हैं उनमें ही उन्हें मनुष्यत्व की अपूर्व ज्योति दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद

निस्सन्देह इस दुर्लभ दृष्टि के अधिकारी थे। इस दृष्टि से ही उन्होंने अपने परिचित और प्रतिवेश के साधारण नरनारियों के जीवन में नित्य-प्रति घटित होने वाली घटनाओं को देखा था। और उन घटनाओं से ही उन्हें अपने उपन्यासों के लिये उपादान प्राप्त हुए थे। जो हमारी दृष्टि में नीच जाति के होने के कारण अनादृत एवं अवज्ञेय थे, उनमें ही प्रेमचंद ने देवदुर्लभ गुणों का आविष्कार किया और उन्हें गौरव के सिंहासन पर अधिष्ठित करके अपने साहित्य में सदा के लिये अमर बना दिया। यही विशेषता है जो विश्व के महान कलाकारों में पाई जाती है, साहित्यिक में जब तक सत्यनिष्ठा (Sincerity) नहीं होगी तब तक उसके द्वारा श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि संभव नहीं हो सकती। प्रेमचंद में यह सत्यनिष्ठा पूर्ण मात्रा में थी। सर्वसाधारण के जीवन से उपादान संग्रह करके उन्होंने अपने साहित्य में जिस आदर्श की सृष्टि की है वह सब प्रकार की कृत्रिमता से रहित है। प्रेमचंद ने भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप को अपने मानसचक्षु से देखा था और अपनी सामाजिक कल्पना (Social imagination) के द्वारा उस समाज के दैनन्दिन जीवन की गम्भीर अनुभूति प्राप्त की थी। यही कारण है कि साधारण मनुष्यों के चरित्र में प्रवेश करके वह उन चरित्रों को अपनी रचनाओं में संपूर्ण अभिनव रूप देने में समर्थ हुए हैं। अपने साहित्य में जिस आदर्श की वह सृष्टि करना चाहते थे वह आदर्श उन्हें जन साधारण के चरित्रों में, उनके जीवन की तुच्छ घटनाओं में ही मिल गया था। मनुष्य को महत् एवं उदार बनाने वाले, उसे मनुष्यत्व की महिमा से मण्डित करने वाले जो सब गुण होते हैं वे किसी वर्ग विशेष की संपत्ति नहीं होते। त्याग, साहस, शौर्य्य, प्रेम, सत्यानुराग, बन्धुत्व आदि गुण साधारण मनुष्यों के जीवन में भी पाये जा सकते हैं। इसलिए वे भी उसी प्रकार आदरणीय हैं जिस प्रकार महान् पुरुष। अतीत के महान् ऐतिहासिक एवं पौराणिक आदर्श चरित्रों ने देश के लक्ष-लक्ष मनुष्यों के जीवन को अनुप्राणित किया है, उनके सामने चिरज्योतिर्मय आदर्श को रखा है, उनके अन्तर में शुभ कर्म की प्रेरणा उत्पन्न की है, उन्हें हँसाया और रुलाया है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पुरातन साहित्य के इन गौरवोज्वल आदर्श चरित्रों के साथ हम अपना संबंधसूत्र विच्छिन्न करना नहीं चाहते। उनमें मानव-जीवन के

जिस अम्लान सौन्दर्य्य की हम झाँकी पाते हैं वह निःसन्देह चिरकाल तक हमें आनन्द प्रदान करता रहेगा, किन्तु अतीत पर ही दृष्टि निबद्ध रखने से हमारा काम नहीं चल सकता। गणतंत्र के प्राण होते हैं साधारण मनुष्य जिन्हें गणतंत्र के कवि Whitman की भाषा में हम divine average कह सकते हैं। इनमें जो सुन्दर एवं महत् गुण पाये जाते हैं उन्हें साहित्य में स्थान देने की आवश्यकता है। अतीत की अपेक्षा उस वर्तमान का क्या कम महत्व है जो वर्तमान जीवन के विचित्र एवं बहुमुखी धाराओं के साथ कल्लोल ध्वनि करता हुआ हमारे सामने प्रकाशित हो रहा है? उसकी उपेक्षा आज के इस गणतांत्रिक युग का साहित्यिक कैसे कर सकता है। गणतंत्र के इस युग में साहित्यिकों का आदर्श भी गणतंत्र ही होना चाहिये और उनके साहित्य में इस आदर्श का सुर ही झंकृत होना चाहिये।

प्रेमचंद ने हमारे साहित्य में एक नूतन पथ का निर्देश किया है। एक नूतन साहित्य के स्रष्टा एवं अग्रदूत के रूप में जो आदर्श उन्होंने साहित्यिकों के समक्ष उपस्थित किया है उसकी ज्योति आज भी अम्लान है और वह चिरकाल तक आगामी भविष्य के लिये मार्ग-प्रदर्शन करता रहेगा। भारत के ग्रामीण समाज की युग-युग की पुञ्जीभूत मूक वेदनाओं को वाणी देकर उन्होंने साहित्य को एक नया जीवन प्रदान किया है। ग्रामीण जीवन का यह कलाकार जीवन के एक ऐसे रहस्य को हमारे सामने उद्घाटित करता है जो रहस्य अबतक हमारे लिये गोपन बना हुआ था। होरी, हीरा, अंधभिखारी सूरदास, गोबर, धनिया जैसे पात्र-पत्रियों की सृष्टि करके हमारे दृष्टिकोण को व्यापक एवं हृदय को उदार बना दिया है। जिनकी देह धूल से भरी रहती है और ललाट पर श्रम की बूंदें कभी सूखने नहीं पातीं, अत्याचार उत्पीड़न एवं शोषण के बीच जिनके जीवन का आरम्भ और अन्त होता है, ऋण की चिन्ता से भारग्रस्त मन लेकर जो शान्ति पूर्वक मृत्यु की गोद में अनन्त विश्राम भी नहीं ले सकते उन्हीं के लिये इस अमर कलाकार ने फूलों की माला गूथी है, और उनके गले में पहनाई है।

जिनके लिये किसी के हृदय में सहानुभूति एवं समवेदना नहीं थी जिसके प्रति अभी तक किसी ने सुविचार नहीं किया था उनके ललाट पर जय की

टीका अंकित करके प्रेमचंद ने उनके साथ सुविचार ही नहीं किया है बल्कि हमारी आँखों में अंगुली डाल कर उनके चरित्र की महिमा एवं गौरव-गरिमा को हमें उपलब्ध करा दिया है। इस दृष्टि से प्रेमचंद के साहित्य का वही महत्व है जो डिकेंस, विक्टर, ह्यूगो, टाल्सटाय, डास्टायवस्की, गोर्की, अलेक्जेंडर कुप्रिन और पर्ल बक के साहित्य का है। जिस प्रकार टाल्सटाय, डास्टायवस्की एलेकजेण्डर कुप्रिन और गोर्की को साहित्य में एक नूतन दिशा का पथ-निर्देश करने और लक्ष-लक्ष साहित्य-रसिकों को एक नूतन दृष्टि दान करने का श्रेय है, उसी प्रकार प्रेमचंद को भी है। हिन्दी साहित्य में वह दिगविजयी प्रतिभा लेकर आये थे। वह प्रतिभा आज भी अपराजेय है।

प्रतिभा के इस वीरपुत्र ने भारतीय समाज के अंधविश्वास एवं कुसंस्कार से आच्छन्न अन्धकारपूर्ण जीवन के ऊपर सत्य का सुतीव्र आलोक-संपात किया है, हमारे जीर्ण शीर्ण संस्कार, अंधविश्वास एवं गतानुगतिक भावों के ऊपर उन्होंने निष्ठुर आघात किया है। किन्तु इस प्रकार आघात करने के समय उन्होंने नूतन के प्रति अनुचित पक्षपात नहीं दिखाया, कहीं भी सीमा का उलंघन नहीं किया, सव्यसाची की तरह उन्होंने जहाँ एक ओर प्राचीन संस्कारों एवं अंधविश्वासों के विरूद्ध व्यङ्गवाण निक्षेप किये हैं वहाँ दूसरी ओर उन्होंने आधुनिक समाज के दम्भ, पाखण्ड, निष्ठुर लोभ एवं निर्लज्ज स्वार्थपरता के ऊपर भी उसी प्रकार सुतीक्ष्ण आघात किया है। उनका यथार्थवाद उन्हीं के शब्दों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। उसमें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति आन्तरिक निष्ठा है, भारतीय आदर्शों का जयगान है।

उनके साहित्य की विशेषता है (humanism) मानवता। उनके अन्तर में जो विशाल सहानुभूति थी उस सहानुभूति को लेकर ही उन्होने मनुष्य का विचार किया है; अतीत के अनुशासन और शास्त्रीय विधि निषेधों की कसौटी पर उन्होने मनुष्य के मूल्य का निरूपण नहीं किया है। मनुष्य के प्रति यह निश्छल प्रीति एवं गम्भीर सहानुभूति ने ही उन्हें समाज के कुसंस्कार एवं विधिनिषेधों के निष्ठुर अनुशासन के विरूद्ध विद्रोही बनाया था। उनके चित्त में स्वाधीनता के लिये अदम्य आकाँक्षा थी, प्राणों में मनुष्य के प्रति असीम श्रद्धा थी

और हृदय में ज्वलन्त आत्ममर्यादाबोध था। समाज, राष्ट्र, धर्म एवं नीति के जो वन्धन मनुष्य के मन, प्राण एवं आत्मा को शृंखलित करके उसके मनुष्यत्व को अपमानित एवं पददलित तथा उसके अधिकारों को क्षुण्ण करने के लिये बने हैं उनके विरुद्ध उनकी लेखनी ने अग्नि उद्गीरन किया है। प्रेम की विशालता एवं सहानुभूति की गम्भीरता ने ही उनके आदर्श पात्रों को वास्तविकता की भूमि पर इतना प्राणवन्त बना दिया है कि वे हमारे मर्म को स्पर्श किये बिना नहीं रहते। कलाकार प्रेमचंद का यही प्रोज्वल रूप उनके साहित्य में प्रतिभासित हो रहा है।

डेविड हरबर्ट लारेन्स

आधुनिक अंगरेजी-साहित्य में डी० एच० लारेन्स का कवि और औपन्यासिक के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान समझा जाता है। लारेन्स-जैसी प्रतिभा सब देशों के लिए और सब काल में दुर्लभ है। पुरातन संस्कार-प्रधान इंग्लैण्ड में अनुसन्धान के प्रति गत दो शताब्दियों के अन्दर इस प्रकार की रुचि देखी गई है या नहीं, इसमें सन्देह है। लारेन्स की कविप्रतिभा यद्यपि असामान्य थी, फिर भी साहित्यानुरागियों की दृष्टि में वे अपने उपन्यासों के लिए ही विशेष विख्यात हैं। किन्तु लारेन्स के उपन्यासों के मर्म को हृदयंगम करने के लिए उनकी कविताओंका अध्ययन करना भी आवश्यक है। एक विशिष्ट समालोचक के मत से लारेन्स की कविता उनके उपन्यासों के गम्भीर तत्वको समझने का सहज उपाय है।

कवि के रूप में लारेन्स को हम वर्ड्सवर्थ की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्ड्सवर्थ के समान लारेन्स भी प्रकृति के उपासक थे, और यही कारण है कि आधुनिक युग में जन्म ग्रहण करने पर भी उनका स्थान आधुनिक कवियों से भिन्न समझा जाता है। गत महायुद्ध के बाद जिन कवियों ने ख्याति प्राप्त की है, उनमें अधिकांश ने प्रकृति की उपेक्षा कर के आधुनिक सभ्यता को ही

अपनी कविता का विषय बनाया है। किन्तु लारेन्स ने अपने काव्य में एक भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने प्रकृति को ही काव्य-रचना का विषय बनाया है। कविता की भाववस्तु के लिए वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया था; किन्तु लारेन्स ने सिर्फ कविता के प्राण की ही ओर दृष्टि रखी है और उसकी अन्य दिशाओं पर विशेष जोर नहीं दिया है। उन्होंने केवल प्राकृतिक दृश्यों का ही वर्णन नहीं किया है, बल्कि प्रकृति का पुंजानुपुंज रूप में विश्लेषण करने की भी चेष्टा की है। प्रकृति के गुप्त रहस्यों की बात भी जाननी चाही है और उसे जतलाना चाहा है। इसीलिए उनकी कविताएँ यद्यपि साधारण फूल-फल, जीव-जन्तु, कीट-पतंग आदि को लेकर लिखी गई हैं, फिर भी उन्हें पढ़ने में आनन्द मिलता है।

सन् १८८५ के सितम्बर महीने में लारेन्स का जन्म हुआ था। उनके पिता एक कोयले की खान में मजदूर थे और माता एक मध्यवित्त गृहस्थ-परिवार की लड़की थी। इस प्रकार के दो विभिन्न श्रेणियों के स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-जीवन में शान्ति एवं सुव्यवस्था का अभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी अन्तर्विरोध के बीच लारेन्स का जन्म हुआ था, इसलिए स्वभावतः उन्होंने समाज की प्रचलित रीति-नीति को संदिग्ध दृष्टि से देखा। स्कूल और विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने कुछ समय तक शिक्षक का कार्य किया। सन् १९०९ में २४ वर्ष की अवस्था में 'इंग्लिश रिव्यू' पत्रिका के सम्पादक के प्रोत्साहन से उन्होंने कविता लिखना शुरू किया और बाद में उपन्यास-रचना की ओर ध्यान दिया। सन् १९११ में उनका पहला उपन्यास 'दि ह्वाइट पीकाक' प्रकाशित हुआ। इसके बाद दूसरे साल में 'दि ट्रेसपासर' और 'सन्स एण्ड लवर्स' प्रकाशित हुए। बाद में उन्होंने शिक्षक का कार्य छोड़ दिया।

इस तीसरे उपन्यास के प्रकाशित होने के साथ-साथ लारेन्स की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी। सन् १९१४ में लारेन्स ने अपनी कविताओं का एक संग्रह 'लव-पोयम्स एण्ड अदर्स' नाम से प्रकाशित किया। ज़र्मनी, इटली और आस्ट्रिया का भ्रमण करके लौटने के बाद इसी साल जुलाई महीने में

उनका विवाह हुआ। अंगरेजी-साहित्य-समाज में लेखक के रूप में इस समय तक उनकी काफी शोहरत हो चुकी थी। साहित्यिक समाज में प्रथम श्रेणी के एक लेखक के रूप में वे परिचित हो चुके थे और साहित्य-रसिकों में भी उनका यथेष्ट आदर था। यों तो वे अपनी सफलता या सम्मान की कुछ भी परवाह नहीं करते थे, फिर भी वे जनता की सहानुभूति अवश्य चाहते थे। उनका विश्वास था कि साहित्य-साधना के रूप में वे जो-कुछ दे रहे हैं, वह एकमात्र लोकोपकार के लिए ही।

इसके बाद यूरोप का महायुद्ध आया। इस युद्ध को उन्होंने एक अखिल विश्वव्यापी दुर्घटना के रूप में समझा। युद्ध के आरम्भ काल में लारेन्स लन्दन में ही थे। महायुद्ध को उन्होंने किस दृष्टि से देखा था, इसका वर्णन उन्होंने अपने 'दि रेनबो' नामक उपन्यास में किया है। यह उपन्यास सरकार की ओर से जब्त कर लिया गया और उसे नष्ट करने का आदेश दिया गया। इस उपन्यास के पृष्ठों में स्थान-स्थान पर लारेन्स की उत्कृष्ट गद्यशैली के अनुपम दृष्टान्त पाए जाते हैं। अपनी इस पुस्तक की जब्ती से उन्हें बड़ी मनोव्यथा हुई, और उन्होंने पाँच वर्ष तक कोई उपन्यास नहीं लिखा। किन्तु इससे उनके विचार में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। इंग्लैण्ड में रहने की अब उनकी इच्छा नहीं थी; मगर आर्थिक कठिनाई के कारण वे इंग्लैण्ड छोड़कर कहीं जा भी नहीं सकते थे। सन् १९१९ में जब युद्ध समाप्त होने पर सन्धि की घोषणा हुई, तब लारेन्स इंग्लैण्ड छोड़कर चले गए और १९३० तक मृत्युकाल-पर्यन्त, इंग्लैण्ड में रहने की नीयत से वापस नहीं लौटे। जीवन के बाकी दिन उन्होंने विभिन्न देशों में भ्रमण करते हुए व्यतीत कर दिए।

लारेन्स पहले इटली गए। वहाँ रहते हुए उन्होंने दो उपन्यास लिखे—'आरन्स रौड' (१९२२) और 'दि लौस्ट गर्ल' (१९२०)। सन् १९२२ में वे इटली से सिलोन और आस्ट्रेलिया होते हुए अमरीका गए। मार्ग में कुछ समय के लिए आस्ट्रेलिया में रह गए और 'कँगारू' (१९२३) तथा 'दि व्वाय इन दि बुश' (१९२४) नामक उपन्यास लिखे। वहाँ से अमरीका गए, और कुछ समय तक संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में रहे। फिर मेक्सिको में जाकर सन् १९२५ तक रहे। बाद में मलेरिया की बीमारी के कारण उन्हें

मेक्सिको छोड़ना पड़ा। इसी बीच उनके निम्न-लिखित उपन्यास प्रकाशित हुए—'सेन्ट माश्रोर' (१९२५) 'दि वोमैन हू रोड अवे' और 'दि प्लुम्ड सर्पैन्ट' (१९२६)। वहाँ से वे इटली आए और फ्लारेन्स के समीप उन्होंने अपना वासस्थान ठीक किया। लारेन्स ने अपनी एक चिट्ठी में लिखा था—"It is all a form of running away form oneself and the great problems : all this wild west and the strange Australia."

सन् १९२८ में जब लारेन्स इटली में थे, उनका विख्यात उपन्यास 'लेडी चैटरलिज लवर' प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशित होते ही पुलिस ने उनके विरुद्ध अश्लील साहित्य प्रकाशित करने के अभियोग में मुकदमा चलाया। इस पुस्तक में यौन-जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने बिलकुल नए दृष्टिकोण से विचार किया है। लारेन्स का मत है कि स्त्री-पुरुष के यौन-जीवन के सम्बन्ध में हमारे मनोभावों में पूर्ण परिवर्तन होना चाहिए। इस विषय में स्वभावतः हमारे मन में एक प्रकार का जो लज्जाबोध होता है, जिससे हम स्त्री-पुरुष के यौन-व्यापार को अश्लील समझकर प्रकट रूप में उसकी चर्चा नहीं कर सकते, उसे लारेन्स ईश्वर की निन्दा के समान पाप समझते हैं। उनकी दृष्टि में यौन-। सम्बन्ध को अश्लील समझना जीवन के मूल उत्स को ही अस्वीकार करना और उसे अधःपतित करना है। लारेन्स ने लिखा है—'मैं चाहता हूँ कि यौन-व्यापार के सम्बन्ध में लोग पूर्णरूप से सचाई और ईमानदारी के साथ स्पष्टतया सोचें।' लारेन्स के विचार से यौन-सम्बन्ध जीवन के तेजका मूल उत्स है। इसके साथ पाप और लज्जाकी भावना को जोड़ना पाखण्ड के सिवा और कुछ नहीं है। उन्होंने आधुनिक काल की इस द्वैत-बुद्धिकी निन्दा की है, जिसमें मन और शरीर तथा मस्तिष्क और रक्त-मांस के बीच एक विभाजक रेखा खींची जाती है। पुरातन काल के इस शुद्धाचारका उन्होंने तीव्र प्रतिवाद किया है, जो देह को मन का कैदी बनाकर रखना चाहता है।

प्रेम के सम्बन्ध में लारेन्स ने लिखा है—'प्रेम की शक्ति से बढ़कर अनुप्राणित करनेवाली क्या और कोई दूसरी शक्ति है ?' प्रेमको वे शक्तिशाली रूप में स्थूल अर्थात् ऐन्द्रिक बनाना चाहते थे ; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं

कि वह पाशविक और कामुक बन जाय। आज प्रेम को आध्यात्मिक और बौद्धिक रंग में रँगने की जो प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी उन्होंने व्यंग्यपूर्ण अवज्ञा की है। लारेन्स के इस मत को लेकर कुछ समालोचकों ने उनके विरुद्ध यह अभियोग लगाया है कि वे मनुष्य को आदिम युग की अधम पाशविकता की ओर ले जाना चाहते हैं। किन्तु ऐसा समझना लारेन्स के प्रति अन्याय करना है। वे तो मनुष्य की आदिम शक्ति की पुनः प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने अन्यत्र लिखा है—'प्रेम की चर्चा करने की अपेक्षा प्रेम करना और प्रेम प्राप्त करना कठिन है।' एक स्थान पर नारी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'परमपिता परमात्मा जो दुर्बोध्य और अज्ञेय है, उसे भी हम नारी के रक्त-मांस में ही जानते हैं।'

लारेन्स के उपन्यासों की एक विशेषता है नर और नारी में द्वन्द्व। किन्तु यह द्वन्द्व विशेषकर इस बात को लेकर चलता है कि आधुनिक युग की सभ्य नारी मूलतः पुरुष के प्रति शत्रु-भाव धारण करनेवाली बन गई है। वह पुरुष की जो सबसे बड़ी सम्पत्ति—उसका मनुष्यत्व, उसका पौरुष—है, उसका शोषण कर लेती है और कुछ समय के अनन्तर पुरुष को स्त्रैण बनाकर उसे पूर्णरूप से अपनी इच्छा के अधीन कर लेती है। अपने 'आरन्स रौड' उपन्यास में स्त्रियों के सम्बन्ध में एक पुरुष पात्र के मुँह से उन्होंने कहलवाया है—'I hate her when she knows, and when she wills. I hate her when she will make of me that which serves her desire. She may love me. She may be soft and kind to me. She may give her life to me. But why? Only because I am hers.' लारेन्स के इस उपन्यास तथा अन्य पुस्तकों में नारी के प्रति इस प्रकार के विरुद्ध मनोभाव कई स्थानों पर पाये जाते हैं।

वर्त्तमान सभ्यता के विरुद्ध भी लारेन्स ने अत्यन्त तीव्र मनोभाव प्रकट किया है। वे चाहते हैं कि वर्त्तमान समाज प्रतिभा एवं बुद्धिका जो अहंकार करता है, उस कृत्रिम जीवन का परित्याग करके वह अपनी स्वभावसिद्ध प्रकृति को मान ले। अपने उपन्यासों में उन्होंने बार-बार इस बात का उल्लेख किया

है कि हमारी भौतिक और यान्त्रिक सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है, और जिन शक्तियों को इसने अब तक दबा कर रखा है, उन्हीं के द्वारा इसका विध्वंस होने जा रहा है। अतीत में हमने जो निष्ठुरता, लोभ और मूर्खता की है, तथा जान-बूझकर जिन बुराइयों की सृष्टि की है, उन्हीं के परिणाम इस समय हमारे सामने उपस्थित हो रहे हैं। हमारी आशाओं, हमारे उद्देश्यों और हमारी कला के लिए भविष्य अन्धकारपूर्ण है। 'मानव-जाति प्राणहीन होकर मृत्यु को प्राप्त हो रही है। उसकी दशा एक ऐसे उखड़े हुए बृहत् वृक्ष के समान हो रही है, जिसकी जड़ शून्य में हो। मनुष्य को एक बार फिर पृथिवी के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना होगा।'

लारेन्स का स्वास्थ्य एक तो पहले से ही अच्छा नहीं था, इस पर पुलिस द्वारा मुकद्दमा चलाया जाना तथा दूसरी विपत्तियों में पड़ना उनके गिरे स्वास्थ्य के लिए और भी खतरनाक साबित हुआ। आखिर २ मार्च, १९३० को उनकी मृत्यु हो गई। वे अपने अन्तिम काल तक साहित्य-साधना में संलग्न रहे। सन् १९३१ में उनका 'दि वरजिन एण्ड दि जिप्सी' और मृत्यु के बाद सन् १९३१ में 'दि मैन हू डाइड' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। इसके बाद उनकी शेष कवितावली 'लास्ट पोयम्स' के नाम से सन् १९३२ में प्रकाशित हुई। लारेन्स कवि के रूप में साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और उनका अन्तिम दान भी कविता के रूप में ही हुआ।

युद्ध के बाद लारेन्स के जो उपन्यास प्रकाशित हुए थे, उनको पढ़ने से ऐसा लगता है कि साहित्य-सम्बन्धी अपने प्राचीन संस्कारों को वे भूल-से गए हैं। इन सब पुस्तकों में आवेग का अभाव नहीं है, भावुकता की मात्रा भी पाई जाती है; किन्तु तर्क की बहुलता ने आख्यान भाग को दबा दिया है। फिर भी उनकी शैली की निपुणता एवं कवि-प्रतिभा के कारण ये सब उपन्यास पाठकों लिए अपाठ्य नहीं कहे जा सकते। किन्तु उनके अन्तिम दो उपन्यास—'दि वरजिन एण्ड दि जिप्सी' और 'दि मैन हू डाइड' के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। इन उपन्यासों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि लारेन्स की रस-सृष्टि की शक्ति अणु-मात्र भी क्षुण्ण नहीं हुई है। मृत्यु के सन्निकट होने पर उनकी प्राथमिक प्रतिभा इन पुस्तकों के पृष्ठ-पृष्ठ

में अमृताक्षरों में फूट-सी पड़ी है। प्रथम उपन्यास में एक परिमार्जित कुमारी का इतिहास है, जो आधुनिक सभ्य-शिष्ट जीवन के दबाव में पड़कर अपने व्यक्तित्व को खो चुकी थी। मुक्ति का पथ उसके सामने उद्घाटित होने पर भी सामाजिक कुसंस्कारों के कारण वह सामाजिक बन्धन-रूपी कारागार से अपने को मुक्त करने में असमर्थ थी। आखिर प्रकृतिदेवी ने संहार-मूर्ति धारण करके उसके कारागार के द्वार को उन्मुक्त कर दिया और एक जिप्सी के बाहुपाश में अपने को सौंप कर उसने देह को परम सत्य के रूप में ग्रहण किया।

दूसरे उपन्यास के नायक स्वयं क्राइस्ट हैं। क्राइस्ट यदि रक्त-मांस के शरीर को सहज ही मान लेते, तो सचमुच वे हमलोगों के लिए स्वर्ग-सोपान की रचना करते; किन्तु रक्त-मांस के अस्तित्व को न मान कर उन्होंने हम लोगों के लिए नरक के मार्ग को परिष्कृत कर दिया है। उपन्यास की आख्यायिका में क्राइस्ट केवल पुनरुज्जीवित होकर ही इस संसार में नहीं लौटे हैं, बल्कि अपने चलाए हुए धर्म की भ्रान्ति के सम्बन्ध में भी पूर्ण सचेतन होकर लौटे हैं। किन्तु तब तक जगत् के परित्राण का सुयोग नष्ट हो चुका था। उनके सामने कोई आशा-भरोसा नहीं रह गया था। इसलिए वे मिस्र चले गए, जहाँ मनुष्य-देह के प्रति असम्मान नहीं दिखाता। यहीं कुमारी के शरीर-स्पर्श से वे उर्वरता के देवता बन गए। अपने इन दो छोटे उपन्यासों में भी लारेन्स ने अपने पूर्वोक्त मत का ही प्रतिपादन किया है—अर्थात् जीवन में रक्त-मांस को अस्वीकार करके जीवन धारण करना विडम्बना-मात्र है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ प्रचार की दृष्टि से ही ये पुस्तकें लिखी गई हैं। दोनों के कथानक उद्देश्यमूलक रूपक होने पर भी इतने मर्मस्पर्शी हैं, इनका रचना-कौशल इतना निपुण है और चरित्र-चित्रण इतना सजीव एवं वास्तविक हुआ है कि प्रचार-प्रवृत्ति कहीं भी कला को क्षुण्ण नहीं कर सकी है। पुस्तकों में कहीं एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी, जिसमें उपदेश देने की या अपने मत में लाने की प्रवृत्ति हो। प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द मानों आवेदन कर रहा हो। कथा का प्राञ्जल प्रवाह तर्क के आलोड़न में पड़कर अणु-मात्र भी आविल नहीं हुआ है।

आधुनिक युग में जन्म ग्रहण करने पर भी लारेन्स यूरोप के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। बुद्धि एवं तर्क के ऊपर लारेन्स को श्रद्धा बिलकुल नहीं थी। उनका बराबर यह विश्वास रहा कि परीक्षा एवं प्रयोग द्वारा सत्य का सन्धान नहीं मिल सकता। इसके लिए एकमात्र उपाय स्वान्तःकरण की स्वतः स्फूर्त प्रेरणा ही है। अपने जीवन की शोकपूर्ण दुर्गति देखकर ही लारेन्स इस सिद्धान्त पर पहुँचे थे कि मानवीय सम्बन्ध का मूलाधार देह ही है। सभ्यता-वृद्धि के साथ-साथ देह के अस्तित्व को भूलकर मनुष्य ने संसार को दुःखपूर्ण और दुर्नीतिमय बना दिया है। इस प्रकार के विश्वास को धारण करके लारेन्स ने यदि अध्यात्म-प्रधान ईसाई धर्म और अध्यात्म-बली अवतारी पुरुष ईसा का प्रत्याख्यान किया है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान की सत्यता में जिनका विश्वास है, वे अवश्य लारेन्स के इस मतवाद का समर्थन करेंगे।

लारेन्स ने जगत् को जीवन्त और शक्तिपुंज के रूप में अनुभूत किया था। उनकी रचनाओं में शक्ति का स्रोत उमड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है। लारेन्स ने जो-कुछ लिखा है, वह सब प्रकम्पनकारी शक्ति और प्रचण्ड तेज से ओत-प्रोत है। उन्होंने एक ऐसे जगत् का स्वप्न देखा था, जिसमें मनुष्य ने ऐसे समाज की सृष्टि की है, जो समाज पृथिवी के प्राणों में अपना प्राणों को मिलाकर अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। लारेन्स के प्रशंसकों की संख्या जहाँ अधिक है, वहाँ उनके विरोधी समालोचक भी कम नहीं हैं। एक समालोचक ने तो लिखा है कि लारेन्स की कविताओं में और सब-कुछ है, सिर्फ कविता नहीं है। किन्तु उन्होंने अपनी कविताओं में एक नूतन आध्यात्मिकता का सन्देश दिया है। वर्तमान काल के साहित्य में अवश्य उनका स्थान है और भविष्य में भी रहेगा। वर्तमान यूरोप लारेन्स के विचारों की अपेक्षा उनकी रचनाओं के पदलालित्य पर ही विशेष मुग्ध है। उनके अर्थ-गौरव की मर्यादा को एकमात्र मिडिलटन मेरीने ही समझा है। लारेन्स-जैसी प्रतिभा आज दुर्लभ है। उनकी मृत्यु से केवल इंग्लैण्ड ने ही नहीं, बल्कि समग्र साहित्यिक जगत् ने एक असामान्य प्रतिभाशाली साहित्यिक को खो दिया!

———

श्रीमती पर्ल बक

विश्व-विख्यात उपन्यास 'दि गुड अर्थ' (The Good Earth) की लेखिका श्रीमती पर्ल बक दूसरी महिला हैं, जिन्होने साहित्यमें नोबेल-पुरस्कार प्राप्त करने का सम्मान लाभ किया है। इनसे पहले नारवे की श्रीमती सिगरिड अण्डसेटको यह सम्मान प्राप्त हुआ था। किन्तु जहाँ तक साहित्य-क्षेत्र में प्रसिद्धि से सम्बन्ध है, पर्ल बक सिगरिड अण्डसेट से बहुत आगे बढ़ गई हैं। उनकी रचनाओं का जितना समादर एवं व्यापक प्रचार हुआ है, उतना अण्डसेट की रचनाओं का नहीं।

पर्ल बक की जीवन-कहानी भी बड़ी विचित्र है। जन्म उनका अमेरिका के पश्चिमी वर्जिनिया प्रदेश में हुआ था; किन्तु जीवन का अधिकांश सुदूर चीन देश में व्यतीत हुआ है। चीन में ही पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा होने से चीन को वे मातृभूमि के समान ही मानने लगी हैं। उनके माता-पिता मिश्नरी या धर्म-प्रचारक पादरी थे। १८९२ ई० में, जब उनकी उम्र सिर्फ चार महीने की थी, वे अपने माता-पिता के साथ चीन आईं, जहाँ वे पहले भी रह चुके थे। चीन में ही उनका लालन-पालन होने लगा। माता-पिता का कोई निश्चित आवास नहीं था। देश में इधर-उधर घूमने के बाद अन्त में उन्होंने याङ्गसी नदी के तीरवर्ती चिकियांग शहर के पास एक पहाड़ी के शिखर पर अवस्थान किया। उस शिखरपर के बँगले से नदी और सारे शहर के दृश्यको भलीभाँति देखा जा सकता था। इसी शान्त एवं निस्तब्ध वातावरण में पर्ल बक के बाल्यकालके मधुमय दिवस व्यतीत हुए।

पर्ल बक की शिक्षा का आरम्भ चीनी भाषा से हुआ; किन्तु आगे चलकर अंगरेजी भाषा पर भी उनका असामान्य अधिकार हो गया। इनकी देख-रेख के लिए एक बुड्ढी चीनी दाई नियुक्त की गई थी। वह बुढ़िया पर्ल बक को अपनी सन्तान के समान मानती थी और नाना प्रकार की कहानियाँ सुनाया करती थी। उसी से पर्ल बक ने पहले-पहल कहानी कहने का कौशल सीखा और इसी समय उनके हृदय में साहित्य के प्रति अनुराग का बीज वपन

हुआ। पर्ल बक भी अपनी इस बुढ़िया दाई को माता के समान मानती थीं। उनका कहानी सुनने का चाव इतना बढ़ा कि घंटों बैठकर वे कहानी सुना करतीं, और वह बुढ़िया दाई भी सरस एवं सहज रूप में देश-देशान्तर के राजा-रजवाड़ों की कहानियाँ, देवी-देवताओं की अलौकिक कहानियाँ तथा दैत्य-दानव और परियों की कहानियाँ सुनाकर पर्ल बक के मन-प्राण को विस्मय-विमुग्ध कर देती। पर्ल बक के माता-पिता भी अपनी पुत्री की अनुनय-विनय करने पर उन्हें अनेक प्रकार की दुःसाहसिक सत्य कहानियाँ सुनाया करते थे। कहानी सुनने में पर्ल बक का उत्साह, आग्रह एवं उत्तेजना अपरिसीम थी। बुढ़िया केवल कहानी ही नहीं सुनाती, बल्कि पर्ल बक को पढ़ने-लिखने के लिए भी कहा करती थी। स्वयं वह एक अक्षर भी पढ़ना-लिखना नहीं जानती थी, फिर भी उसके जीवन की यह सबसे बड़ी साध थी कि पर्ल बक पढ़-लिखकर मनुष्य बनें। चीन के एक स्कूल में पर्ल बकको भरती कराया गया, जहाँ उन्होने चीनी भाषा सीखी। उनकी माँ यह भी चाहती थीं कि पर्ल बक पढ़ने-लिखने के साथ-साथ घर का भी कुछ काम-काज देखा करें; किन्तु बुढ़िया दाई को यह पसन्द नहीं था। बुढ़िया स्वयं सब काम ठीक से कर दिया करती थी, जिससे पर्ल बक के पढ़ने-लिखने में बाधा न हो।

पन्द्रह साल की उम्र में पर्ल बक शंघाई के एक स्कूल में दाखिल हुईं। वहाँ दो साल तक पढ़ने के बाद वे अपने जन्मस्थान अमेरिका आईं और यहीं पहले-पहल उनकी कालेज की शिक्षा का आरम्भ हुआ। किन्तु प्रकृति की गोद में पलनेवाली पर्ल बक को कालेज की आबद्ध जीवनयात्रा अच्छी नहीं लगी। इसके सिवा अपनी सहपाठिनियों का रंग-ढंग भी उन्हें कुछ अजीब-सा जँचने लगा। फिर भी कालेज के अध्यापकों से पर्ल बक की प्रतिभा छिपी नहीं रही। कालेज जीवन में सभी विषयों में नेतृत्व करने का भार उनके ऊपर ही आ पड़ा। इसी समय उन्हें सर्वश्रेष्ठ गल्प-रचना के लिए एक पुरस्कार भी मिला।

कालेज की शिक्षा समाप्त करके वे चीन लौट आईं। इसके दो वर्ष बाद उन्होंने एक अमेरिकन युवक से विवाह किया और अपनी माँ को साथ ले उत्तर-चीन के एक शहर में जाकर रहने लगीं, जहाँ उनके पिता नौकरी करते थे। यहीं उनके जीवन के पाँच साल व्यतीत हुए। इस अवधि में उन्होंने

चीन-वासियों के दैनन्दिन जीवन से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। चीन के नर-नारियों के साथ वे स्वच्छन्द भाव से मिलने-जुलने लगीं, और उनके जीवन की छोटी-से-छोटी बातों की भी उन्होंने अभिज्ञता प्राप्त की। इसी समय चीन में भीषण अकाल पड़ा। विदेशी दस्युओं ने शहर पर आक्रमण किया। उनके साथ नगरवासियों का प्रत्यक्ष संघर्ष हुआ। इस संघर्ष की अभिज्ञता इतनी रोमांचकर थी कि पर्ल बक आजीवन उसे नहीं भूलीं। उनके लिखे उपन्यासों में हमें इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

१९२२ में पर्ल बक की प्रथम रचना अमेरिका के बोस्टन नगर से निकलने-वाले 'अटलाण्टिक' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके बाद १९२४ में 'फोरम' पत्र में उनका दूसरा लेख 'Beauty in China' प्रकाशित हुआ। इसी साल में एक और लेख 'The Chinese student mind' प्रकाशित हुआ।

१९२५ में थोड़े दिनों की छुट्टी लेकर पर्ल बक अमेरिका आईं। यहाँ उन्होंने अंगरेजी-साहित्य का विशेष रूपमें अध्ययन किया। अध्ययन-काल में ही उन्होंने 'China and the West' शीर्षक एक गवेषणामूलक निबन्ध लिखा, जिसके लिए उन्हें एक पुरस्कार मिला। सात साल बाद १९३३ में उन्हें फिलेडेल्फिया के 'American Academy of Politics and Social Science' में एक सुदीर्घ व्यख्यान देना पड़ा। अमेरिका की यात्रा करते समय जहाज पर ही उन्होंने अपने सर्वप्रथम उपन्यास 'East Wind West Wind' की रचना की। यह उपन्यास आरम्भ में एक लम्बी कहानी के रूप में लिखा गया था और 'A Chinese Woman Speaks' नाम से 'एशिया' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। १९२६ में पर्ल बक चीन लौट आईं और 'एशिया' में प्रकाशित कहानी के लिए पुरस्कार प्राप्त करने के फलस्वरूप उत्साहित एवं आन्दोत्फुल्ल होकर नियमित रूप से साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त होने लगीं।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी, जिससे उनका साहित्य-रचना-कार्य कुछ समय के लिए रुक गया। बात यह हुई कि १९२७ के मार्च महीने में राष्ट्रीय सैन्य-दल ने नानकिंग में प्रवेश किया। चारों ओर लूट-पाट और विदेशी

प्रवासियों के ऊपर निर्मम अत्याचार शुरू हो गए। विदेशियों के जान-माल पर भीषण संकट आ गया। पर्ल बक और उनके पति इस अचानक आक्रमण से इतने संत्रस्त हो उठे कि उन्हें अपने घर के सामान तक सँभालने का अवसर नहीं मिला। आक्रमण का संवाद पाने के पन्द्रह मिनट बाद ही पति-पत्नी ने भागना शुरू किया। उनके विश्वस्त नौकरों ने इस संकट-काल में उनकी प्राण-रक्षा की। उन्हीं की सहायता से वे निर्भय आत्मगोपन करने में समर्थ हुए। अपनी एक परिचिता स्त्री की कुटिया में वे सारा दिन छिपे रहे। चारों ओर सैनिक फेरी लगा रहे थे। जरा-सी भी टोह मिलने पर प्राण नाशकी आशंका थी! गोद में एक दो साल का बच्चा और साथ में सात वर्ष का बालक। इधर सैनिक मदोन्मत्त होकर आसपास के घरों के दरवाजे, खिड़कियाँ, जँगले आदि तोड़ रहे थे।

सारा दिन इसी तरह व्यतीत हो गया। संध्या में जब ब्रिटिश और अमेरिकन युद्ध-जहाजों से गोले छूटने लगे, तो सैन्य-दल शान्त हुआ। अपने चीनी इष्टमित्रों तथा छात्रों की आन्तरिक चेष्टा से उनका परित्राण हुआ। वहाँ से छूट कर वे एक ऐसे स्थान में आए, जहाँ शरणार्थियों की पहले से ही भीड़ थी। जब तक विप्लव का प्रकोप शान्त नहीं हुआ, तब तक पर्ल बक और उनके पति एक अज्ञात स्थान में वास करते रहे।

वहाँ से कुछ समय बाद पर्ल बक नानकिंग लौट आईं। १९३० में उन्होंने 'दि गुड अर्थ' उपन्यास की रचना आरम्भ करके उसे समाप्त किया। १९३१ के अप्रैल में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। आपकी रचनाओं में यह पुस्तक सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। देश-विदेश के समालोचकों एवं पाठकों ने इस पुस्तक की इतनी प्रशंसा की कि लगभग दो वर्ष तक अमेरिका के बाजार में पुस्तकों की बिक्री में इस पुस्तक ने रेकर्ड स्थापित कर दिया। एक साल के अन्दर ही अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ साहित्य-पुरस्कार भी इसकी लेखिका को मिला। संसार की बीस श्रेष्ठ भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। १९३६ में इस उपन्यास का सवाक् चित्रपट तैयार हुआ। चित्रपट के रूप में भी इसकी बड़ी ख्याति हुई। लेखिका के पास स्थान-स्थान से प्रशंसासूचक पत्र आने लगे।

अब तक अमेरिकन लेखकों की जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं, उनसे पर्ल बक की यह रचना सर्वथा भिन्न थी। उनकी रचना का एक निजी वैशिष्ट्य था, जिसके कारण अमेरिकन पाठकों में उसकी अत्यधिक सराहना एवं संवर्द्धना हुई। सिंक्लेयर लुई और अप्टन सिंक्लेयर के उपन्यास भी अमेरिका में काफी लोकप्रिय सिद्ध हो चुके हैं। उनमें अमेरिका के उन नागरिकों के जीवन का चित्र प्रस्फुटित हुआ है, जिसमें सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ जीवन की समस्याएँ जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं। इधर पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से अमेरिका के साहित्य में विशेषकर सभ्यता की व्याधि और तज्जनित जीवन की जटिल समस्याओं को लेकर ही आलोचना होती आ रही थी। सिंक्लेयर लुई के उपन्यासों—'Main Street' और 'Babitb'—में हम अमेरिका के आधुनिक सभ्य जीवन का एक ऐसा चित्र पाते हैं, जिसमें इस जीवन का एक परिपूर्ण एवं वास्तविक स्वरूप हमें देखने को मिलता है। अप्टन सिंक्लेयर के 'Oil' और 'Jungle' उपन्यासों में श्रमिकों की दुर्दशा एवं श्रेणी-संघर्ष का आभास हमें मिलता है; किन्तु पर्ल बक के उपन्यास इन सब रचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं। पर्ल बकके 'दि गुड अर्थ' उपन्यास में आप न तो मानव-जीवन की समस्याओं की ऊहापोह या मानव चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व पायँगे और न जटिल मनस्तत्वका विश्लेषण ही। इसमें एक साधारण दरिद्र चीनी कृषक-परिवार का चित्रण इतना सजीव एवं मर्मस्पर्शी हुआ है कि सहृदय पाठक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। इस उपन्यास में असाधारणता या जटिलता कुछ भी नहीं है, और यही इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। सरल आडम्बरहीन मानव-चरित्र का चित्रण बड़े ही सजीव एवं मनोरम रुपमें हुआ है। जीवन के माधुर्य एवं स्निग्धता के सम्मिश्रण से अपूर्व चरित्रों की सृष्टि हुई है।

ग्राम्य प्रकृति की पटभूमि में एक सहज अनाडम्बर कृपक-जीवन की कहानी को लेकर 'दि गुड अर्थ' उपन्यास के कथानक की रचना की गई है। इसमें एक साधारण कृषक-जीवन की क्रमोन्नति इस रूप में दिखलाई गई है, जिससे उस जीवन का एक सम्पूर्ण चित्र हमारी आँखों के सामने ज्वलन्त रूप में चित्रित हो आता है। पर्ल बककी सबसे बड़ी खूबी यह है कि उन्होंने चरित्र-

चित्रण में अपूर्व संयम का परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उनके पात्र सब विश्वस्त प्राणी हैं और उनमें से एक-एक के जीवन से उनका घनिष्ठ परिचय रहा है। अपने चरित्रों की जहाँ उन्होंने त्रुटियाँ दिखलाई हैं, वहाँ भी उन्होंने उत्तेजना से काम नहीं लिया है और न किसी चरित्र के दोष-त्रुटियों का मार्जन करने की चेष्टा की है। 'दि गुड अर्थ' उपन्यास में आप अनेक चरित्रों की सृष्टि देखेंगे; किन्तु सबका एक निजत्व एवं वैशिष्ट्य है। कोई भी गौण चरित्र प्रधान नहीं बनने पाया है और न उसकी छाप उपन्यास के नायक पर पड़ने पाई है। यही करण है कि इन सब चरित्रों से कथानक की मनोहरता और भी बढ़ गई है। सब चरित्र-लेखिका के घनिष्ठ परिचित एवं रक्त-माँस के सजीव मनुष्य-जैसे प्रतीत होते हैं।

'दि गुड अर्थ' की सारी कहानी वाङ्ग लुंग (Wang Lung) परिवार पर केन्द्रित है। कथानक का आरम्भ होता है वाङ्ग लुंग के विवाहोत्सव को लेकर। वाङ्ग के मन की कितने दिनों की साधें आज पूरी होने जा रही हैं। भावी जीवन के सुख की न मालूम कितनी कल्पनाएँ उसके मनमें उठ रही हैं। अब उसे सुबह उठकर अपने पिता के लिए चाह तैयार करने के लिए चूल्हा नहीं जलाना होगा। उसे अब एक जीवन-संगिनी मिलेगी, जो सब कामों में हाथ बँटायगी। उसकी इच्छा थी एक सुन्दरी स्त्री को ब्याह कर लाने की; किन्तु उसके पिता का कहना था कि हमारे घरमें सुन्दरी बहू को लाकर क्या होगा? हमें तो ऐसी बहू चाहिए, जो घर का काम-काज कर सकें, हमारी सेवा-टहल कर सके और हमारे वंश को कायम रख सके। सुन्दरी स्त्री क्या हमारे साथ खेत में काम कर सकेगी? पिता की इच्छा के अनुकूल एक दासी-कन्या ओ-लान के साथ वाङ्ग का विवाह हुआ। ओ-लान का चरित्र इतना सरस, करुण, मधुर एवं हृदयग्राही है कि बरबस मनको विमुग्ध कर देता है। उसके चरित्र को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है, मानो एक ग्रामीण भारतीय नारी का सजीव चित्र हमारे सामने उपस्थित हो। ओ-लान घरका काम-काज करने में निपुण है और अपने पति के साथ वह खेत में काम करने जाती है। दाम्पत्य जीवन में वह पति की अर्द्धांगिनी है। वह पति से कहती है, मैंने तुम्हारे लिए सन्तानोत्पादन किया है। प्रसव की पीड़ा वह शान्त एवं

नीरव भाव से सहन करती है और प्रसव के थोड़े समय बाद ही खेत पर काम करने चली जाती है। पति के प्रति उसका अनुराग इतना प्रगाढ़ एवं गम्भीर है कि आगे चलकर जब वाङ्ग लुंग एक दूसरी सुन्दरी स्त्री को अपने घर में ले आता है तब भी पति के प्रति उसका अनुराग अक्षुण्ण बना रहता है। गृहस्थ-जीवन के नाना घात-प्रतिघातों के बीच भी ओ-लान पति के प्रति अपने कर्त्तव्यों को नहीं भूलती। ऐसा मालूम होता है, मानो वह जीवन में केवल अपने कर्त्तव्यों को ही जानती हो, उसके अधिकार कुछ हों ही नहीं। जिस प्रकार भारतीय बधूका चरित्र परिवार की लक्ष्मी के रूप में अंकित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार ओ-लान का चरित्र भी याङ्ग-परिवार की लक्ष्मी के रूप में अंकित किया गया है। पति के प्रति एकान्त श्रद्धा, कर्त्तव्यों के प्रति एकनिष्ठा, सन्तान के प्रति अकृत्रिम स्नेह तथा सेवा एवं मधुर सलज्ज भाव ओ-लान के चरित्र में बड़े कौशल के साथ प्रस्फुटित किया गया है। ओ-लान मानों सुफला माता बसुन्धरा की प्रतीक-स्वरूपा हो। "रमणी के धूसर स्तन से शिशु के लिए श्वेत शुभ्र दुग्ध स्रवित होता था—जब शिशु एक स्तन से दुग्धपान करता था, तब दूसरे स्तन से दुग्ध निर्झरिणी के समान प्रस्रवित होता था।" वाङ्ग लुंग और ओ-लान दोनों सुबह से शाम तक साथ मिलकर खेतों में काम करते। बच्चे खेतों की मेड़ों पर दिन भर खेलते रहते। अपनी भूमि के प्रति दम्पति का अनुराग असाधारण था। उनके नीरव कर्मयोग एवं एकनिष्ठ सेवा से प्रसन्न होकर माता वसुमती भी उनके लिए फलप्रसू बन गई। परिवार का सौभाग्योदय हुआ। उनकी आर्थिक अवस्था क्रमशः उन्नत होने लगी।

भूमि ही वाङ्ग के जीवन का एकमात्र स्वप्न एवं उसकी समस्त आशाओं का केन्द्र थी। उसके जीवन की सारी कर्मचेष्टा, शरीर की कार्यक्षमता एवं समग्र गति का मूल उत्स भूमि ही था। भूमि के प्रति उसके हृदय में एक इतना बड़ा आकर्षण था कि उसके कारण उसका जीवन आदि से अन्त तक अनुप्राणित होता रहा। यदि यह आकर्षण नहीं होता, तो उसके जीवन में न तो कोई कर्मशीलता होती और न उसकी शक्तियों का सदुपयोग होता। सरा जीवन अकर्मण्य, निष्फल एवं विशृंखल बन जाता। भूमि उसके लिए प्राणों से भी प्रिय थी। अपनी इस प्रिय भूमि को बेचने की कल्पना वह स्वप्न

में भी नहीं कर सकता था। भूमि के प्रति यह अनुराग, अपने खेतों के प्रति यह ममत्व-भाव इतना प्रबल एवं प्रगाढ़ था कि जब दुर्भिक्ष के कारण वाङ्ग-परिवार को दक्षिण देशों में जाना पड़ा,उस समय भी वह अपनी प्रिय भूमि को नहीं भूला। उसकी याद रह-रहकर उसके कलेजे में एक कसक पैदा करती थी। नगर के कर्म-कोलाहलमय व्यस्त जीवन में वह अपने को खोया हुआ-सा पाता। यहाँ का कृत्रिम जीवन उसके लिए असह्य हो उठा। अपने देश को लौट चलने के लिए, अपनी उस चिर-परिचित भूमि को एक बार फिर नयन भरकर देखने के लिए वह व्याकुल हो उठा। इसी समय चीन में विप्लव की विभीषिका फैलने लगी। एक चीनी युवक की ओजस्विनी वक्तृता सुनकर वाङ्ग भीत एवं संत्रस्त हो उठा। विप्लव की बात वह बिल्कुल नहीं समझ सका। इसी समय एक घटना घटी। जहाँ वाङ्ग लुंग रहता था, पास के हर एक बड़े आदमी के घर पर दस्युओं का आक्रमण हुआ। लूट-पाट मच गई, और इस लूट-पाट में ओ-लान को भी कुछ जवाहरात हाथ लगे। दुर्भिक्ष का प्रकोप कम होने पर वाङ्ग अपने परिवार के साथ स्वदेश लौट आया। उसकी पत्नी ने लूट के मालमें जो जवाहरात प्राप्त किए थे, उनसे उसने अपनी जमीन को बन्धक से छुड़ाया। जिस धनी परिवार से उसने दासी कन्या के रूप में ओ-लान को प्राप्त किया था, उस परिवार की आर्थिक अवस्था क्रमशः खराब हो चली थी। वाङ्ग ने उस परिवार की सारी जमीन खरीद ली, और अब जमीन की पैदावार से उसे इतनी आमदनी होने लगी कि उसका जीवन सुख-सौभाग्यपूर्ण हो गया। अब वह जीवन में नूतन सुख एवं विलासिता की बात सोचने लगा। 'लोटस' (कमल) नाम की एक सुन्दरी नर्तकी को उपपत्नी के रूप में वह घर ले आया। अपनी पूर्व पत्नी ओ-लान के प्रति अब उसका अनुराग शिथिल पड़ गया। इस उपपत्नी को लेकर परिवार में गृह-कलह का सूत्रपात हुआ। इस विपर्यय के बीच भी ओ-लान की धीरता एवं स्थिरता पूर्ववत् बनी रही। उसके कारण ही परिवार की शान्ति एकबारगी नष्ट नहीं होने पाई। पति के प्रेम से वंचित होकर भी पति के प्रति वह विश्वस्त एवं अनुगामिनी बनी रही। नीरव भाव से अनादर, अपमान एवं लांछना को सहन करती रही। अब भी उसे इस बात का गर्व था कि वाङ्ग-परिवार के वंश को वह धारण करनेवाली है।

उसने वाङ्ग को पुत्ररत्न प्रदान किए हैं। वाङ्ग भी पुत्रवती जननी के रूप में ओ-लान का जो गौरवपूर्ण स्थान था, उसे मन-ही-मन महसूस करता था।

वृद्धावस्था में वाङ्ग अपनी पैतृक भूमि को छोड़कर पास के एक बड़े मकान में आकर रहने लगा था। वह वही मकान था, जिसमें एक धनी जमींदार परिवार रहता था और जिस परिवार की दास-कन्या ओ-लान और नर्तकी 'लोटस' थी। इस समय तक उसके तीनों पुत्र भी बड़े हो चुके थे और उनमें से दो की बहुएँ घरमें आकर रहने भी लगी थीं। वाङ्ग विप्लव की वाणी को नहीं समझ सका था; किन्तु आगे चलकर उसके वंशधरों ने विप्लव के आह्वान को सुना, और उनमें से एक विप्लवी दल में सम्मिलित भी हो गया। वाङ्ग लुंग की आत्मिक और दैहिक सम्पद् भूमि ही थी। उस भूमि में ही उसके मन-प्राण बसे हुए थे। इसलिए जब उसके जीवन का अवसान-काल उपस्थित हुआ, तो उस पैतृक भूमि की गोद में ही वह चिर-निद्रा में लीन हो गया। "आज भी उसकी आत्मा उस भूमि के ऊपर विचरण कर रही है और उसके वंशधर यदि किसी समय उस भूमि को बेच डालेंगे, तो वाङ्ग लुंग की आत्मा उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगी।"

इस प्रकार 'दि गुड अर्थ' उपन्यास में हम चीनी जाती का एक सजीव एवं विश्वस्त चित्र पाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इस उपन्यास के चरित्रों में एक ऐसी सार्वजनीनता है, जो स्थान, काल एवं पात्र के परे हमारे मर्म को स्पर्श करती है। चीन के इस कृषक-परिवार का चित्र किसी भी पूर्वीय देश के कृषक-परिवार के जीवन का वास्तविक चित्र कहा जा सकता है। जिस प्रकार ओ-लान के शान्त, मधुर एवं करुण जीवन में हम एक भारतीय ग्रामीण ललना के जीवन की झाँकी पाते हैं, उसी प्रकार वाङ्ग लुंग का परिवार भी एक ऐसा कृषक-परिवार है, जिसका नमूना हमें भारत के ग्रामों में सर्वत्र मिलता है।

पर्ल बक की रचना में किसी दार्शनिक तत्त्व या नीति की व्याख्या नहीं हुई है; किन्तु अपने उपन्यासों में चित्रित प्रत्येक चरित्र के साथ उन्होंने अपने को ओतप्रोत भाव से मिला दिया है। उन्होंने जीवन को समग्र भाव से देखा है और उसी रूप में जीवन का अनुभव किया है। जीवन की जो सब मनो-

वृत्तियाँ शाश्वत एवं चिरन्तन होती हैं---काल की दुर्वार गति के साथ जिनमें परिवर्तन नहीं होता—उन्हीं की कहानी रोमान्स है। और पर्ल बक के उपन्यासों में इसी प्रकार का रोमान्स है। तीन साल के बाद १९३२ में पर्ल बक फिर अमेरिका आईं। यहाँ आकर उन्होंने देखा कि अमेरिका के प्रत्येक सम्पादक की ओर से उनके पास लेख के लिए पत्र पर पत्र पहुँचने लगे हैं। 'दि गुड अर्थ' उपन्यास के अन्तिम परिणाम को दिखाने के लिए उन्होंने 'Sons' नामक एक और उपन्यास की रचना की, जो १९३२ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास द्वारा उनके असंख्य पाठकों के कौतूहल की तृप्ति हुई। चीन के विप्लव और उसकी विध्वंस-लीला को केन्द्र करके उन्होंने दो और उपन्यासों की रचना की। पहला उपन्यास 'The Young Revolutionary' १९३२ में और दूसरा 'The First Wife and Other Stories' अगामी वर्ष में प्रकाशित हुआ। दूसरी पुस्तक में उनकी कहानियों का संग्रह है। १९३३ में चीन के विख्यात उपन्यास 'शुइ हू चुआंग' का अनुवाद 'All Men are Brothers' नाम से प्रकाशित हुआ। यह एक प्रकाण्ड उपन्यास है, जिसमें १०८ प्रधान चरित्र और बहुसंख्यक अप्रधान चरित्र हैं। १९३४ में 'The Mother' उपन्यास और १९३५ के आरम्भ में 'The Good Earth' का शेष भाग वाङ्ग-परिवार की कहानी का अन्तिम अध्याय 'A House Divided' उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही ये तीनों उपन्यास 'House of Earth' नामसे एक जिल्द में प्रकाशित हुए।

१९३३ में जब पर्ल बक अमेरिका में थीं, येल-विश्व-विद्यालय की ओर से उन्हें एम० ए० की उपाधि मिली।

१९३५ में प्रथम पति के साथ उनका विवाह-विच्छेद हो जाने पर उन्होंने 'एशिया' पत्रिका के सम्पादक श्री रिचार्ड जे० वाल्श के साथ विवाह किया। पेन्सिलवेनिया में ठेकेपर जमीन लेकर वे वहीं निश्चित रूप से बस गईं। 'एशिया' पत्रिका में पुस्तक-परिचय एवं समालोचना-विभाग का परिचालन पर्ल बक को ही करना पड़ता है। १९३५ के नवम्बर में उन्हें 'हावेल्स-पुरस्कार' मिला। १९३० से १९३५ ई० तक जितने उपन्यास अमेरिका में

प्रकाशित हुए थे, उनमें सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'दि गुड अर्थ' ही समझा गया, और इसीलिए उक्त सुवर्णपदक आपको मिला। १९३६ में उनके 'The Exile' और Fighting Angle' नामक दो उपन्यास प्रकाशित हुए। दूसरे उपन्यास में अमेरिकन चित्रों एवं दृश्यों का समावेश किया गया है। १९३८ का साल पर्ल बक के साहित्यिक जीवन का गौरव-स्तम्भ है। इसी साल उन्हें नोबेल-पुरस्कार द्वारा सम्मानित करके समस्त सभ्य जगत् ने उनका अभिनन्दन किया और उनकी श्रेष्ठ साहित्यिक प्रतिभा को स्वीकार किया। इसके बाद १९३९ में 'This Proud Heart' तथा 'The Patriot' ये दो उपन्यास और 'The Chinese Novel' प्रबन्ध-पुस्तक प्रकाशित हुई। १९४० में उनकी दो पुस्तकें 'Other gods' और 'Stories for little Childre'n प्रकाशित हुईं। इसी साल उनकी एक और पुस्तक 'Today and forever' प्रकाशित हुई। इस प्रकार पर्ल बक ने साहित्य के प्रायः सभी विभागों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके समान बहुमुखी प्रतिभा संसार की लेखिकाओं में विरल ही देखी जाती है। प्रगतिशील लेखकों में भी ऐसे बहुत थोड़े होंगे, जो पर्ल बक के समान मिट्टी के मनुष्य के जीवन की सुख-दुःख की कहानी इस प्रकार प्रस्फुटित कर सकें।

पुस्तकों का विवरण

1. The Novel and the People—Ralph Fox
2. Illusion and Reality—Christopher Caudwell
3. A hope for Poetry—C. Day Lewis
4. Revaluation—F. R. Leavis
5. Twentieth Century Literature—A. C. Ward
6. The Use of Poetry—T. S. Eliot
7. Modern Tendencies in English Literature —Amiya Kumar Chakravarti
8. International Congress of the P. E N. Club
9. Destructive Criticism—Spender

इनके अतिरिक्त अंगरेजी, बंगला तथा हिन्दी की सामयिक पत्र-पत्रिकायें।